THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_180022
UNIVERSAL LIBRARY

पिया

[सामाजिक उपन्यास]

लेखिका

उषादेवी मित्रा

बनारस

सरस्वती प्रेस

सर्वोदय साहित्य मन्दिर
हुसेनीअलम रोड, हैदराबाद (दक्षिण).

कापीराइट,
श्रीमती उषादेवी मित्रा, १९३७

प्रथम संस्करण—१९३७
द्वितीय संस्करण—अप्रैल, १९४२
तृतीय संस्करण—सितंबर, १९४४
चतुर्थ संस्करण—जनवरी, १९४६

मुद्रक
श्री प त रा य,
सरस्वती प्रेस, बनारस

'नहीं ठहरतीं तो जाओ, किन्तु ऐसी भरी साँझ में श्राप न दो। दो-चार नहीं, एक ही तो बच्चा है। वह भी बेसुध पड़ा है। भगवान्! मेरे बच्चे को अच्छा कर दो—सवा पाँच रुपये का परसाद चढ़ाऊँगी!'—बहू आकाश की ओर हाथ जोड़कर कहने लगी।

'पति पुत्र के घमण्ड में फूली नहीं समाती! विधवा हूँ तो अपने लिए। ईश्वर ने मुझे मारा है। ये बातें मुझे सुनाकर क्या करेगी? पाँच के नहीं, तू दस के प्रसाद चढ़ा न। ऊँचे पेड़ को आँधी एक झपेटे में समेट लेती है। भूली किस बात पर है? क्या मैं कुछ समझती नहीं? अभी-अभी मुझे सुनाकर जिन रुपयों का घमण्ड कर रही थी, उसपर बाज न टूट पड़े तो कहना!'

वधू सिहर उठी, बोली—कोस तो लिया दीदी जी भरकर, अब जरा ठहर जाओ। अकेली मैं घर कैसे लौटूँगी?

इस बार नीलिमा उत्तर दिये बिना ही आगे की सीढ़ियों को तय करती जल्दी-जल्दी ऊपर पहुँच गयी।

'डरो मत भौजी, मैं खड़ी हूँ। जल्दी काम कर लो।'

उस कोमल स्वर से नारी-हृदय चौंकी। अपनी छोटी बहन कविता को देखकर नीलिमा क्रोध, क्षोभ से बावली-सी होगयी—तुझे यहाँ किसने बुलाया कविता? सब बात में सयानी बनती है।

'तुम्हें घर लौटने में देरी देखकर माँ ने मुझे भेजा है। तुम्हारे कपड़े भीगे हैं, घर जाकर बदल डालो दीदी, नहीं तो बीमार पड़ जाओगी। मैं यहाँ ठहरती हूँ।'

'पानी-आँधी में यहाँ खड़े रहने की क्या जरूरत है? भीग न जाओगी? घर चलो, कविता।'

कविता खिलखिला पड़ी—स्कूल में तो मैं रोज भीगा करती हूँ। बासन मुझे दे दो। तुम घर चलो, दीदी! मैं अभी आयी। बेचारी भौजी डर रही है।

'वह मरे या जिये, हमसे मतलब? दिन-पर-दिन हठी हो रही हो। किसीको कुछ समझती नहीं। यह सब अँग्रेजी पढ़ने का गुण है। मैं तभी कहती थी कि माँ इसे स्कूल मत भेजो, मैं दिन-भर बासन माँजूँ, धान कूटूँ, घर-गृहस्थी के धन्धे करूँ और उधर दुलारी कविता जूते-मोजे पहनकर स्कूल जाय। संसार ही

उलटा है न। यहाँ एक-सी दृष्टि कहाँ ? अभीसे बड़ी बहन की अवहेलना करना। गस कर लेने से तो न-जाने क्या करेगी।'

जल्दी-जल्दी काम से निबटकर जुलाहा-बहू ऊपर आयी—तकलीफ हुई तुम्हें, कवि बहन ! अब चलो।

गरज पड़ी नीलिमा—अब क्या तेरे साथ-साथ चलना पड़ेगा ?

'कल गिर पड़ी थी, पैर में अब भी दर्द है। जरा धीरे चलो बहन, मेरा घर तो पहले पड़ता है।'—विनीत कण्ठ से उसने कहा।

बहन को वाद-प्रतिवाद का अवसर न देकर कवि आगे-आगे चल पड़ी—बच्चा अब कैसा है, भौजी ?

नीलिमा के नेत्र विस्फारित हो उठे। वह केवल आँखें फाड़-फाड़कर देखती रह गयी कि वर्षा में भीगती, मधुमक्खी जैसी गुनगुनाती दोनों सखी किस आराम से इठलाती चली जा रही हैं। नहीं, नीलिमा और अधिक देख सुन नहीं सकती थी और न सह सकती थी। उस अविराम वर्षा की गोद में वह बैठ गयी उसी कीचड़ में। उसके कठोर मुख पर व्यथा और अभिमान की छाया निविड़ होने लगी। छोटी की उपेक्षा ने समुन्दर का जल उसकी आँखों में भर दिया। कितने दिनों की न-जाने कितनी छोटी-बड़ी घटनाएँ उनकी आँखों के सामने आकर अड़ने लगीं। वर्तमान, अतीत और भविष्य के चित्र मानो सचल और सजीव हो गये।

अभाव, दारिद्र्य के भीतर नीलिमा का जन्म हुआ था। पिता, अल्प वेतन पाते थे, कठिनाई से गृहस्थी चलती थी। आजी, पिता, माता और उन दोनों बहनों को लेकर गृहस्थी छोटी न थी। स्त्री-शिक्षा में पिता की रुचि अवश्य थी; किन्तु आजी थीं विरोधी। और इसीलिए वह न तो घर पर पढ़ पायी और न स्कूल में। मातृभक्त पिता, माता के सन्तोष के लिए, गौरीदान का पुण्य संचय कर बैठे थे, अष्ट-वर्षीया नीलिमा का विवाह करके।

विवाह की बात नीलिमा को छिन्न-भिन्न सपना-सी लगती। उसके साथ और एक दिन की बात उसे स्मरण हो आती—एक दीर्घ अभिशाप, आकुल क्रन्दन की तरह उस एक दिन की बात, जिस दिन उसे हृदय से लगाकर माता ने विवश हो आँसू की झड़ी लगा दी थी और उसके माँग का सिन्दूर नदी में बहाकर काँच

की चूड़ियाँ उतार ली थीं। और ?—हाँ और भी बहुत-कुछ है न। उसी वर्ष आजी स्वर्गलोक पधारीं। मृत्यु के समय वह एक बात और कह गयी थीं, जिसे नीलिमा भूल नहीं सकती। वह माता की उस प्रोथित धन और अलंकार का पता देती गयी थी कि उस अर्थ से कविता का विवाह कर देना और उसे पढ़ाना। वह उनका अनुरोध नहीं, आदेश था, जिसकी अवहेलना उस घर के कुत्ते भी नहीं कर सकते थे। बचपन में कविता को विवाह देने का वह निषेध कर गयी थीं और पढ़ने पर जोर देती गयी थीं। नहीं, वरन् पुत्र से और पुत्र-वधू से प्रतिज्ञा भी करा ली थी। उसके मत का ऐसा परिवर्तन कौन से शुभ या अशुभ मुहूर्त्त में हो गया था, सो नीलिमा क्या जाने ? जाने या न जाने वही बूढ़ी आत्मा ! पिता की मृत्यु हुई थी अचानक। बस, तबसे वह और माता अर्द्ध अनशन में रहकर कविता को पढ़ाती चली आ रही हैं। अगले साल वह मैट्रिक-परीक्षा देगी।

अतीत की ओर निहारते-निहारते, उस पुरानी कथा के स्मरण से नीलिमा का जी जाने कैसा कर उठा। आँसू सूख गये। वेदना एवम् अपमान से नेत्र स्तिमित-से हो रहे। वह विचारने लगी—वह मूर्ख, अशिक्षित विधवा है ; तभी तो छोटी बहन उसकी उपेक्षा कर सकी। माना कि यह सब सच है, फिर इसमें उसका अपराध ? क्या यह उसके हाथ की बात थी ? विधवा है—वह मूरख—मूरख। उसके अन्तर की नारी आहत अभिमान से सिर पीटने लगी। नीलिमा रो पड़ी—व्यर्थ गया है उसका त्याग, बिलकुल व्यर्थ। और सहनशीलता ? उसे तो पृथ्वी ने लौटकर देखना भी उचित न समझा। कविता शिक्षा पा रही है, धनवान के घर उसका ब्याह हो जायगा, हीरे-मोती से लदी मोटर पर घूमती फिरेगी। उसकी एक छोटी आज्ञा के लिए दास-दासी व्याकुल रहेंगे, रजत-पात्र में भोजन करेगी, खीर, मिष्टान्न से तृप्त होगी, सोने के पानदान में पान बनायेगी। और वह,—वह तो धान कूटकर, बासन माँजकर, चीथड़े पहनकर दिन बितायेगी। इन बातों को विचारते-विचारते नीलिमा जोर से रो पड़ी।

[२]

छोटे मकान के गज-भर के आँगन में जब नीलिमा आकर खड़ी हो गयी, तब रात-रानी इन्द्रलोक से धरती तक उतर चुकी थीं।

कोने की कोठरी से जननी हरमोहिनी ने पूछा—कौन है ?

'मैं हूँ।'—भारी गले से नीलिमा ने उत्तर दिया।

'इतनी रात तक तालाब पर क्या कर रही थी?'

'मर रही थी।'

'न-जाने कैसी बातें करती है! सन्ध्या निकल गयी। तुलसी के पास दीया न जला!'

'क्या कविता नहीं जला सकती थी?'

हरमोहिनी चुप रही। नीलिमा ने कपड़े बदले, गीले कपड़े निचोड़कर सूखने को डाल दिये। उसके बाद दीया जलाकर तुलसी के नीचे रख आयी।

आँगन के कोने में तुलसीमञ्च, दोनों ओर मिट्टी के छोटे दालान, दालान के उस ओर छोटी कोठरियाँ। बस, इतना ही था। नीलिमा ने एक टूटी लालटेन जलाकर सामने रख दी, और मिट्टी का प्रदीप लिये अपनी कोठरी में चली गयी। अप्रसन्न मुख से गमछा उठाया एवं गमछे से भीगे बालों को पोंछने लगी। सहसा उसकी दृष्टि दर्पण पर जा गिरी। दीवार पर एक धुँधला-सा दर्पण लटक रहा था। नीलिमा विस्मित, पुलकित, अचल हो रही। इन्द्र-सभा की किस किन्नरी की छाया दर्पण में पड़ गयी? दीर्घ, कुञ्चित केश-राशि से घिरा परम सुन्दर मुख, आँसू भरे आयत लोचन उसकी आँखों में—उसके हृदय में धूम मचाने लगे। विस्मय-व्याकुल, विह्वल-दृष्टि से वह देखने लगी और देखने लगी—अपने-आपको। हाँ, उस रमणीय छवि को। न यह शव की साधना थी, न रूप की कोरी कल्पना। नहीं, यह थी जीवित रूप की उपासना, रूप की साकार पूजा। रूप! रूप! ऐसा रूप!!! एक अचम्भे से, गम्भीर तन्मयता से उस जीवित रूप को वह देखने लगी। अपने को घुमा-फिराकर, सामने-पीछे हटाकर वह देखने लगी, किन्तु फिर भी अन्तर अतृप्त रह ही गया, हृदय-ग्रन्थि शिथिल हो पड़ी। रूपसी, वह ऐसी रूपसी? विस्मय-विमूढ़ नीलिमा विचारने लगी—तो यह रूप सम्राज्ञी इतने दिन तक इस छोटे-से शरीर में छिपकर कहाँ बैठी थी? और मुझे ही खबर नहीं? किन्तु जब वह निकलकर सामने आ गयी, तब उससे परिचय के प्रथम अवसर में जी ऐसा क्यों घबरा रहा है? रूप, रूप, ऐसा रूप? क्या पर्वत-शिखर पर रहनेवाली विद्याधरी ऐसी ही सुन्दर हुआ करती हैं? जिस रूप की शव-साधना में पृथ्वी आतुर है, जिस रूप के वर्णन से कवि की लेखनी

कभी थकती नहीं, क्या वह सौन्दर्य यही है? ऐसा ही मादकतापूर्ण अपरूप उन्माद, ऐसा ही विस्मयकारी है वह रूप? सुन्दर है वह, वर्णनातीत सुन्दरी। नीलिमा विकल होकर विचारने लगी—किन्तु इस रूप को लेकर मैं क्या करूँगी? अरे, कौन-से काम में आयेगा यह रूप? यदि कविता को यह रूप मिल जाता, तो काम में आता। उसकी शादी किसी राजा से ही हो जाती। किन्तु हुआ उसका उलटा। कविता कुत्सित नहीं तो सुन्दरी भी नहीं है। और मैं? किन्तु इस रूप को लेकर मैं क्या करूँ? नीलिमा का जी जाने कैसा कर उठा। एक अनास्वादित, अतृप्त आकांक्षा जाने कैसी कल्पना, एक हाहाकार ने उसके शरीर की नसों को त्रस्त, व्यस्त, मथित कर डाला। जमीन पर नीलिमा औंधी गिर पड़ी और सिसक सिसककर रोने लगी।

'आज रोटी न बनेगी क्या? लड़की अभी भूख-भूख चिल्लाती आती होगी।'—हरमोहिनी ने बाहर से पुकारकर कहा। किन्तु जब उत्तर न मिला तब द्वार पर से उसने झाँका। बोली—दिन-पर दिन तू अन्धेर कर रही है नीला, अभी सोने की कौन-सी जरूरत पड़ गयी?

'सोना भी क्या अपराध है? इस घर की क्या मैं महरी या महराजिन हूँ, जो रोज मुझे ही रोटी बनानी पड़ेगी! कवि रोटी नहीं बना सकती क्या?'

हरमोहिनी नरम पड़ गयी—वह अभी लड़की है बेटी, स्कूल से लौटकर थक जाती है। जब-तू उसे बाहर भेजा, वह जानी कहाँ था? कहने लगी, पढ़ने को बहुत है। मैंने कहा—इससे स्वास्थ्य बिगड़ जायगा, जरा घूम-फिर आओ। बाहर की हवा अच्छी होती है।

'वह पढ़ती है तो इससे मुझे क्या? पढ़ेगी तो अपने लिए। बड़े घर में ब्याह हो जायगा, मोटर पर घूमती फिरेगी। क्यों—क्यों मैं उसके कपड़ों में साबुन लगाऊँ, बासन माँजूँ, रोटी बनाऊँ? किसलिए मैं यह सब करूँ? क्या मेरा स्वास्थ्य न बिगड़ेगा? अपने को विदुषी समझती है, जरा-सी लड़की, सबके सामने मेरा अपमान करती है। उसने मुझे आज क्या न कहा?'—हाथ से मुँह ढाँककर नीलिमा रोने लगी।

व्यस्त होकर हरमोहिनी ने उसे हृदय से लगा लिया। 'जैसा अदृष्ट लेकर आयी थी, क्या करती मैं और क्या करेगी तू? तुम्हारा जो कुछ होना था सो

हो गया, अब छोटी बहन की भलाई देखो, चुप रहो, चुप रहो, ऐसे समय कहीं कोई रोता है? अकल्याण होगा।'

'मेरा अब कल्याण, अकल्याण क्या होगा, माँ?'

उसके आँसू पोंछकर, समझा बुझाकर हरमोहिनी ने चूल्हा सुलगाया।

[३]

गोमती नदी के किनारे, वृक्ष लता से घिरा, मजिस्ट्रेट सुकान्त चटर्जी का धूसर रंग का बँगला स्वप्न-लोक-सा प्रतीत हो रहा था। सामने लान, एक ओर गोमती का कल गान और पीछे फल का उद्यान, पुराने वट के वृक्ष। वट की लम्बी जटाओं में कितने ही विचित्र वर्ण की चिड़ियाँ झूला झूलती रहतीं और तब वट स्थिर हो रहता, मानो स्तब्ध दृष्टि से उस क्रीड़ा को देखता। शायद पहले जन्म की बात उसे स्मरण हो आती या नहीं भी होती। लेकिन उस क्रीड़ा में कदाचित् वह भी सम्मिलित होना चाहता, पक्षी की आत्मा में समा जाना चाहता, या अपने वृद्धत्व को उन फुर्तीले पक्षियों में बाँट देना चाहता। कौन जाने? कभी इतने जोर से वह चिल्ला उठता कि छोटी चिड़ियाँ फुर्र से उड़ जातीं। कभी दूर खड़ी मजिस्ट्रेट साहब की भ्रातृपुत्री पपीहरा उस रंग, कौतुक को देखकर ताली बजा देती, खुशी से मचल-सी पड़ती।

दिन ढल चुका था। वट के नीचे एक सफेद घोड़े पर से श्यामांगी तरुणी उतर पड़ी। पुकारने लगी—भगवानदीन!

पुराना भृत्य दौड़ा हुआ आया - 'टाइगर' को मैं बाँधे देता हूँ।

रेशमी रूमाल से पसीना पोंछकर तरुणी हँसी—तुम इसमे हार जाओगे, भगवानदीन! घोड़ा नहीं, यह शेर है। साईस के सिवा दूसरे को पास नहीं आने देता।

'बिलकुल ठीक बात है? याद है न बाई साहब, पहले-पहल जब टाइगर पर चढ़े थे? उस बात की याद से मेरे तो रोयें खड़े हो जाते हैं। साहब की जान मुश्किल से बची। साहब हैरान हो गये। बोले, इसे अभी निकाल दो। पर तुमने न-जाने इसपर कौन-सी माया कर दी। उसे मन्तर फूँक दिया। वह तो तुम्हारे पास कुत्ते का पिल्ला हो रहा है।'

'टाइगर मुझे चाहता है, भगवानदीन। वह जानता है कि मैं उसे कितना चाहती हूँ। घोड़े सब समझते हैं।'

'कहीं जानवर भी ममता को पहचान सका है, बाई?' नौकर हँस पड़ा।

'तुम हँसते हो? जानवर हमसे ज्यादा समझदार होते हैं। जानते भी हो कुछ? वह अधिक अनुभवी होते हैं। फिर हों क्यों न, उनके भी तो प्राण हैं। जैसे हमारे हैं, ठीक उसी तरह। स्नेह, प्रेम के अनुभव की शक्ति उनमें है। हमारे पास वह गूँगे-से लगते हैं तो क्या हुआ? अपनी भाषा में वे पण्डित होते हैं। हम देखते हैं कि जानवर बात नहीं कर सकते, किन्तु जरा ध्यान से उन्हें देखो तो समझ सकोगे कि वह कैसे भाषामय हैं। किन्तु जब हम ही न समझ सकें तो वह क्या करें? बेचारे असहाय प्राणी!'—परम आदर से पपीहरा अश्व-कण्ठ से लिपट गयी।

भगवानदीन पुलक-मुग्ध दृष्टि से उस दृश्य को देखने लगा।

पपीहरा हटी। जमीन पर से सोने की मूठ लगी चाबुक उठा ली। फिर पूछा—साईस क्या अभी अच्छा नहीं हुआ?

'अच्छा है, शायद कल काम पर आवे।'

'अच्छा, तो अब 'टार्च' लेकर मेरे साथ चलो। अस्तबल में इसे बाँध दूँ।'

वे दोनों चल पड़े।

नाम तो उसका पपीहरा था, परन्तु लोग पुकारते थे 'पिया' कहकर।

पिया अस्तबल से लौटी तो सीधे ड्राइंग-रूम में जाकर कोच पर लेट रही। दास-दासी दौड़े। 'इलेक्ट्रिक फैन' खोल दिया गया। कोई दासी जूते-मोजे उतारने में लगी, कोई सिर का पसीना पोंछने लगी।

एक ने व्यस्त होकर पूछा—चाय ले आऊँ?

'नहीं, काका कहाँ हैं?'

'कमरे में।'

'अकेले हैं?'

'जी नहीं।'

'कौन है?'

दासी कुछ इतस्ततः कर बोली—मिसेज़ शापुरजी?

दासी जानती थी कि मिसेज़ शापुरजी को पिया बिलकुल पसन्द नहीं करती।

पिया उठकर बैठ गयी। विरक्ति-विराग से उसके मुख की रेखाएँ कुंचित हुईं। कहा—तुम लोग जाओ।

'यमुनाबाई को बुला दूँ?' डरते-डरते उसने पूछा।

'नहीं, कहती तो हूँ, चली जाओ।'

दासी चुपचाप खड़ी रह गयी। कालेज से लौटकर उस दिन पिया ने जलपान न किया था, किन्तु उस बात को कहने का साहस दासी में था नहीं। कौन जाने, यदि रूठ जाय? उस घर के नूतन और पुरातन दासी-चाकर प्रभु की प्रिय भ्रातुष्पुत्री के जिद्दी स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। एक तुच्छ कारण से लड़की किसपर कब रूठ बैठे और किसपर अकारण सन्तुष्ट होकर पुरस्कार दे डाले, इस बात को कोई नहीं कह सकता था। उस घर में गृह-स्वामी से अधिक था इस लड़की के सन्तोष-असन्तोष का मूल्य।

दास-दासी, पितृ मातृहीन भतीजी एवं स्वयं आप। बस, सुकान्त चटर्जी की गृहस्थी इतनी ही थी। उनको पत्नी-वियोग बहुत पहले हो चुका था। आठ वर्ष की लड़की परीक्षा को उन्होंने अपने रिक्त अन्तर की बुभुक्षित ममता-स्नेह की छाया में ढाँक लिया था। पिया के बिना उनके दिन नहीं कटते थे। लड़की के लिए एक बार शायद वह स्वर्ग के चाँद को लाने के लिए भी दौड़ते।

सुकान्त की बड़ी बहन अत्यन्त आशा लगाये बैठी थीं कि निःसन्तान भ्राता उनके पुत्र को सम्पत्ति का प्रभु बनावेगा। किन्तु जब हो गया उसका उलटा, तब वह देश से लड़के के साथ दौड़ी आयीं। और देख सुनकर अपना सिर पीट लिया। सुकान्त ने साफ-साफ कह दिया, 'मेरी लड़की पिया है, वही है सब कुछ की अधिकारिणी। मैं तुम्हारी सहायता किया करूँगा।' उसी दिन बहन लौट गयी थी। तबसे कभी नहीं आयी। न सहायता ली। परन्तु कन्या यमुना को रोक न सकी! यह चार-छः महीने में जरूर चली आती। मामा एवं पिया के लिए प्राण देती थी। उसका विवाह सुकान्त ने कर दिया था। जमाई विभूति जमींदार था। सुकान्त स्वयं भी जमींदार थे—यद्यपि वह रहते थे शहर में। जमींदारी नायब-गुमाश्ते देखते।

दासी को खड़ी देखकर पिया ने पूछा—खड़ी क्यों हो?

'जलपान ले आऊँ'—वह धीरे से बोली।

'भूख नहीं है। तुम जाओ।'

दासी चली गयी। अनमनी-सी पिया उठकर भीतर जाने को हुई। द्वार के परदे को हिलते देखकर बैठ गयी। पूछा—कौन है?

इस बार परदा जरा हटा और एक सुन्दरी स्त्री का मुख साफ निकल आया।

पिया खिलखिला पड़ी—दीदी, तुम हो, वहाँ क्यों खड़ी हो? चली क्यों नहीं आतीं? कोई नहीं है।

स्त्री वहाँ से हिली भी नहीं। बहुत धीरे कहने लगी—भीतर चली आ पिया, बैठक में से आऊँ कैसे? अभी कोई महाशय आ जायँगे।

'नहीं बहन, तू चली आ। मुझमें उठने की शक्ति नहीं है।'

'क्यों, क्या हो गया?'

'घोड़े पर से गिर पड़ी।'

'और मुझे खबर नहीं। ज्यादा चोट तो नहीं लगी? देखें?'

यों कहती उद्विग्न मुख से स्थूलांगी सुन्दरी युवती ने कमरे में प्रवेश किया

'कहाँ लगी है?'—यमुना ने पूछा।

'बहुत दर्द है, धीरे से देख लो।'

'अरे! घुटना तो फूल गया है। यहीं लगा है न?'

पिया बहन से लिपटकर हँसने लगी।

हँसती क्यों है? चल हट, यह सब तेरी बनायी बातें हैं। कैसी झूठी है! मैं तो डर गयी कि या ईश्वर, कहीं ज्यादा चोट तो नहीं लगी? बड़ी नटखट है तू, झूठी।'

'यदि झूठ न बोलती, तो तुम यहाँ कब आनेवाली थीं?'

पिया की फुआ की लड़की यमुना कुछ दिन के लिए मामा के घर आयी थी।

'अब जाती हूँ पिऊ, कोई आ जायगा।'

'आने दे, इससे क्या? तू बड़ी डरपोक है दीदी! जैसे हम हैं वैसे आनेवाले। आखिर वे भी तो मनुष्य ही हैं न? आजकल भी भला कोई परदा करता है?'

'बहन, कभी मैं भी पैदल कालेज जाती थी। इसी कमरे में बैठकर कितने

महाशयों से तर्क-वितर्क किया करती थी। मामा के साथ टी-पार्टी और डिनर में जाया करती थी। मर्दों के साथ एक टेबिल पर भोजन करती थी।'

'तुम दीदी—तुम, तुम? सच कहती हो! सबके सामने निकलती थीं तुम?'—विस्मय से पिया के नेत्र स्तब्ध हो रहे।

'हाँ पिया, मैं। वे दिन खुशी से कैसे हरे रहते थे!'

'उसके बाद?'—एक तन्द्रा के भीतर से पिया ने पूछा।

'जाने दे पिया उन बातों को।'

'कहो न, दीदी।'

'कहूँगी, भीतर चलो। वे आते होंगे।'

'जीजा यदि आवें तो क्या हुआ? तुम्हें यहाँ बैठी देखकर वह प्रसन्न होंगे।'

'बात ऐसी नहीं है।'

'ऐसी नहीं है, तो कैसी है? सच कह रही हो?'

'तुझसे झूठ कैसे कहूँ?'

अत्यन्त विस्मय से पिया ने कहा—जीजाजी सदा पर्दा के विरुद्ध बड़ी-बड़ी बातें कहा करते हैं। कहते हैं, तुम्हारी दीदी किसीसे मिलना पसन्द नहीं करतीं। उनका कहना है, केवल इसी कारण से तुमसे उनकी अनबन हो जाया करती है।

यमुना चुप रही। विभूति उसका पति था, फिर पति के विरुद्ध वह कहती क्या—और कैसे?

'दीदी!'

पिया की पुकार से वह चौंकी—'हाँ'।

'कहूँ मैं जीजा से कि वह ऐसा झूठ क्यों कहते हैं?'

ऐसा मत करना, पिया! शायद यहाँ पर वह चुप रहें। नहीं समझ सकती हो बहन कि पीछे इस छोटी-सी बात के लिए मुझे कैसी लांछना मिलेगी।'

विस्मय से पिया उसका मुँह निहारने लगी।

'ऐसा मत कहना। यदि कह दोगी, तो घर में रहना मेरे लिए कठिन हो जायगा। सास भी हाथ धोकर पीछे पड़ जायगी।'

'ऐसा अत्याचार तुम सहा करती हो? इस अत्याचार के विरुद्ध क्या जरा-सा कुछ बोल भी नहीं सकती हो?'

'कुछ नहीं - कुछ नहीं। करने और कहने सुनने के लिए तो कुछ भी नहीं है, पिया !'

कुछ कहने जाकर पिया चुप हो गयी, अचानक उसकी दृष्टि पड़ी विभूति पर। विभूति का मुँह काला पड़ गया था। क्यों ? शायद पत्नी को बैठक में बैठी देखकर, या यों ही; परन्तु फिर भी वह हँसा। हँसने के व्यर्थ प्रयास से मुख की रेखाओं को कुत्सित कर फिर भी वह हँसा—बड़े भाग्य से तुम्हारी बहन का दर्शन आज बाहर के कमरे में मिल गया, पिया ! तुम्हारी प्रशंसा किये बिना जी नहीं मानता, फिर यों कहो कि बहन को भी अपनी बगल में खींच लायी हो, फिर भी शंका है, बाहर की हवा उन्हें शायद ही सहन हो।

'घबराइए नहीं आप। किसीके आने के पहले ही वह अपने जेल में लौट जायँगी। मैं जबरन् उन्हें लिवा लायी। चिन्ता न करें, मेरे चाहने पर भी वह बाहर की हवा में न आयेंगी।'—तीखे स्वर से पिया ने उत्तर दिया।

'यह सब तुम क्या कह रही हो, पिया ?'

'मैं किसीसे मिथ्या तर्क-वितर्क नहीं कर सकती।'—पिया ऐसी रूठी कि मुँह फेरकर बैठ गयी।

वाद-विवाद से उन दोनों को बचा दिया उस घर के प्रभु ने, वहाँ पहुँचकर। दोहरे बदन के लम्बे पुरुष, सूट-बूट-विरहित, स्त्रियों जैसा सुकुमार मुख, अर्द्ध-वयसवाले सुकान्त चटर्जी के पीछे-पीछे कमरे में प्रवेश किया एक पारसी नारी ने। उसके आगमन से घर की वायु सेण्ट की सुगन्ध से सुगन्धित हो गयी।

'कब लौटी, पिया बेटी !'—स्नेह-तरल स्वर से सुकान्त ने पूछा।

काका को देखकर पिया फूल-सी खिल पड़ी—जाने कितनी देर से तुम नहीं थे।

पारसी स्त्री बोली—प्रायः यहाँ आकर लौट जाती हूँ, पिया ! तू तो पढ़ने और घोड़े के पीछे मौसी को भूल गयी। मेरा जी नहीं मानता। आज अड़ गयी कि पपीहरा से मिलकर लौटूँगी। दुबली दिखती हो, पिया !

किन्तु जिसके लिए यह सहानुभूति और उद्वेग था, उसका चेहरा विरक्ति से वक्र हो रहा था। बस, इस अन्यथा सहानुभूति, बिना कारण उद्वेग और मौखिक व्यथा दिखाने के कारण ही तो मिसेज़ शापुरजी को पिया पसन्द नहीं कर सकती थी।

मिसेज़ शापुरजी अधिक चिन्तित-सी दिखने लगीं, सुकान्त से बोलीं—मिस्टर चटर्जी, अभीसे 'केयर' लें, लड़की दिन-पर-दिन सूख रही है।

'कैसी मुश्किल है! रोग कैसा? दिन-दिन तो मोटी हो रही हूँ, मौसी! तुम निश्चिन्त रहो, मैं अच्छी हूँ। और यदि स्वास्थ्य बिगड़ता, तो काका उसे पहले जान लेते।'—पिया ने क्रोध, विरक्ति को दबाना तो सीखा ही न था, फिर ऐसा कहने के सिवा वह करती क्या!

मिसेज़ शापुरजी का चेहरा पीला पड़ गया।

'काका, "टाइगर" अब बिल्ली-जैसा सीधा हो गया है, अब चढ़ना तुम उसपर।'

पिया के निकट बैठकर परम आदर से सुकान्त उसके बालों को सुलझाने लगे—चढ़ूँगा बिटिया! जानते हो विभूति, उस दुर्दान्त घोड़े को पिया ने कुत्ते-जैसा वश में कर लिया है। मैं तो उसके पास जाते डरता था।

'फिर लड़की भी कैसी है, मिस्टर चटर्जी, घोड़े की कौन कहे, शेर भी उससे डरेगा। उस दिन इसने एक सोलजर की चाबुक से खबर ली। और एक दिन इसने हमें शराबी के हाथ से बचाया।'—उत्तर दिया मिसेज़ शापुरजी ने।

द्वार के बाहर से आलोक और रमेश का स्वर सुन पड़ा—दो मिनट ठहरिए मिसेज़ शापुरजी, ऐसी 'इन्टरेस्टिंग' बातों में हम भी भाग लेना चाहते हैं।

'नहीं-नहीं, आप दोनों भी आ-जाइए।'—हँसकर मिसेज़ शापुरजी बोलीं।

कुर्सी खींचकर दोनों बैठ गये।

आलोक ने कहा—ठहरिए, जरा सिगार सुलगा लूँ, नहीं तो मजा न आयेगा—सिगार-केस खोलकर उसने सुकान्त की ओर बढ़ा दिया और फिर रमेश तथा विभूति को दिया। सब एक-एक सिगार उठाते गये और धन्यवाद देते गये।

'अब कहिए, मिसेज़ शापुरजी।'—आलोक ने कहा।

'मौसी की बातों में आप पड़े हैं! मौसी यों ही कह रही थीं।'—लज्जित हास्य से पिया बोली।

'वे नहीं कहतीं तो कहने के लिए मैं जो तैयार बैठा हूँ।'—सुकान्त मुस्करा रहे थे।

'अरे तुम भी ? जाओ—मैं तुमसे कुट्टी कर लूँगी, काका !'

मिसेज़ शापुरजी कब चुप रहनेवाली थीं ? कहने लगीं—उस दिन बेटी के साथ मैं पार्क में घूमने चली गयी। घर लौटने में सन्ध्या हो गयी। आप तो जानते हैं कि वहाँ का रास्ता कैसा सूना रहता है और दोनों ओर झाड़ी-झुरमुट। रास्ते में दो शराबी मिल गये। हम भागी-भागी चली आ रही थीं, परन्तु उन बदमाशों ने रोक ही तो लिया ! लगे वह अनाप शनाप बकने। मारे डर के हम माँ-बेटी की बुरी दशा हो गयी, किन्तु परमात्मा को कब यह बातें मंजूर हो सकती हैं ? घोड़े पर सवार पिया पहुँच ही तो गयी। वह घर लौट रही थी। मिस्टर चौधरी, अपनी आँखों न देखने से वह सीन शायद ही समझ में आवे। मैं कह नहीं सकती कि क्या हुआ। हाँ, इतना देख रही थी कि पपीहरा का चाबुक घूम रहा था; और फिर कैसा, बिजली-सा। कुछ देर के बाद जब पिया मेरे पास आकर खड़ी हो गयी तो देखा कि एक पड़ा कराह रहा था, दूसरा भाग गया था। यदि उस दिन पपीहरा न पहुँचती, तो न-जाने हमारी क्या दुर्दशा हो जाती।

प्रत्येक श्रोता के नेत्र में प्रशंसा व्याप-सी गयी और पिया का स्वास्थ्य पूर्ण शरीर लज्जा से संकुचित हो गया।

[५]

गोमय-लिप्त घर-आँगन धूप में चमक रहे थे। दालान के एक ओर मँजे बासन रखे थे। आँगन में बेदी के नीचे कुछ कपड़े सूख रहे थे। काम काज से निपटकर नीलिमा बेदी के नीचे बैठी थी—अलसानी-सी। घर में अनाज का दाना भी नहीं था—फिर वह करती क्या ? कुछ दिनों से एक बेला आहार पर उनके दिन कट रहे थे। किन्तु आज तो कहीं से कुछ नहीं मिल सका, मुहल्ले-पड़ोसवालों ने साफ कह दिया—नित के अभाव को हम पूरा नहीं कर सकते हैं। कई दिन से नीलिमा एक प्रकार उपवासी थी। कविता को भरपेट भोजन करा देती। माता और वह पानी पीकर पड़ रहतीं। आज उन दिनों माँ-बेटी का तो एकादशी का उपवास है, भोजन तो कविता के लिए चाहिए न।

भूख-प्यास से नीलिमा का शरीर शिथिल पड़ रहा था, उसमें उठने की शक्ति थी नहीं। वहीं आँचल बिछाकर लेट रही।

घर लौटकर हरमोहिनी की दृष्टि सर्वप्रथम पड़ गयी कन्या पर। क्रोध से वह

बल-सी पड़ीं। उनके वस्त्र के छोर में दो आलू और थोड़े-से चावल बँधे थे! पड़ोसी के घर से कर्ज स्वरूप लायी थीं। आते-आते विचार रही थीं—चूल्हा जलता होगा, नीलिमा से कह दूँगी, पहले इसे चढ़ा दो। दिन इतना चढ़ गया, कविता भूखी है, कम-से-कम वह तो भोजन कर लेगी। हम विधवाओं को क्या? चाहे खा लें, चाहे भूखे रहें। फिर आज एकादशी का दिन ठहरा, हम दोनों का निर्जला उपवास है

परन्तु घर में अपने विचार के विपरीत कार्य होते देखकर उन्हें क्रोध चढ़ आया। पुकारा—नीलिमा, राजकन्या-सी आराम से तो सो रही हो, किसीके खाने-पीने की कुछ फिकर है?

'जरा-सा लेट गयी थी माँ, हाथ-पैर दर्द कर रहे हैं। तुम चिढ़ती क्यों हो? घर में कुछ हो तब तो बनाऊँ?'

'दिन-दोपहरी में नींद भी आ जाती है! उसपर आँगन में लोटना, जितना है, सब कुछ कुलच्छण। बस, ऐसे ही अत्याचार, व्यभिचार से सब कुछ चाटकर बैठ गयी हो न। अपना सब गया, अब रात-दिन आँसू बहाकर छोटी बहन के अकल्याण की चेष्टा।

मुँहबोर नीलिमा गूँगी सी माँ का मुँह निहारने लगी, मानो उसका अन्तर उन अप्रिय रूढ़ शब्दों के निकट मूक हो गया हो।

'अब उठकर भात बनाओगी या राजरानी-सी पड़ी रहोगी? कविता के लिए कुछ बनाना है या नहीं? क्या उसे भी अपने साथ एकादशी कराओगी?'

'मैं ही तो हूँ इस घर की छूत। कहती तो जाती हूँ, विमला बुआ के साथ मुझे शहर जाने दो। सो न जाने देंगी। यहाँ रहो और इनकी विदुषी लड़की की सेवा करो। नहीं करती मैं कुछ, कर लो जो तुम्हारे जी में आवे। मैं किसीकी क्रीत-दासी नहीं हूँ। चौबीसो घण्टे ऐसी बातें नहीं सह सकती। क्या मैंने कह दिया था कि ईश्वर मुझे तुम विधवा कर दो, और मैं भूखी-प्यासी काम करती रहूँ, जो तुम सदा मुझे ताना दिया करती हो? कल मैं विमला बुआ के साथ शहर चली न जाऊँ तो कहना। हाथ-पैर हैं, काम कर लूँगी; और सुख से दो रोटी भी मिल जायगी।'

मुँह से चाहे कुछ भी कहें, किन्तु इन बातों को सुनकर हरमोहिनी का मातृ-

हृदय विकल हो पड़ा। साथ-ही साथ एक शंका भी हो आयी। सुन्दरी—युवती लड़की कहीं कुछ कर न बैठे ; तो वंश में कलंक लग जायगा।

बोली, और वह अत्यन्त कोमलता के साथ कहने लगी—तुम दोनों को सुख-शान्ति में रखने की क्या मेरी इच्छा नहीं होती ? क्या करूँ बेटी, ईश्वर ने मुझे दुखिया ही बना दिया है।

'ईश्वर ने नहीं, हम मनुष्यों ने ही अपना अधिकार अपने-आप त्याग दिया है।'—नीलिमा गरजकर बोली।

'कहती क्या है ?'

'नहीं तो क्या ? भद्र-घर के सम्मान ने ही तो हमें बेकाम बना दिया है। यदि मैं नाऊ, धीमर, चमार, मेहतर के घर पैदा हुई होती, तो बनी मजूरी करके पेट-भर भोजन तो कर लेती। कोई बुरा कहने को तो न होता। मजूरी करने में उन्हें लज्जा-शर्म नहीं है और — वंश-मर्यादा के लिए अनाहार रहना पड़ता है। यहाँ तो हाथ-पैर रहते हुए भी उसे काटकर बैठो। नियम पालो, एकादशी करो, गहने-कपड़े न पहनो।'

'ऐसी बातें तुमसे किसने कहीं, नीला ? मेरी नीला यह सब क्या जाने !' आकुल-विस्मय से माँ ने कहा।

'कहेगा कौन ? ये बातें सब लोग जानते हैं। विमला बुआ के पास बैठो तो जरा जाकर। बेचारी बड़ी अच्छी हैं। उनसे मैंने बहुत सी बातें जान लीं।'

'वहाँ मत जाना नीला, वह अच्छी नहीं है। गँवारिन कहीं की, क्या जाने ब्राह्मण के घर जन्म लेना कौन-सी सुकृति है। उस जन्म में तुमने तपस्या की थी, तभी न ब्राह्मण के घर आयी हो। नहीं, उसके पास मत बैठना। क्या जाने वह नीच स्त्री ब्राह्मण का महत्त्व !'

नीलिमा चुप रही। इन बातों का प्रतिवाद वह न कर सकी। कदाचित् जन्मगत संस्कार ने उसे प्रतिपादन करने से रोका हो, या विद्य ज्ञता ने ही। जानकारी का अभाव हो, या माता की बात की सत्यता ही हो !

'उस दिन गोविन्द कह रहा था—जमींदार मुकुन्द इस वर्ष दुर्गापूजा में गाँव पर आ रहे हैं। उनके घर में कोई बड़ी-बूढ़ी है नहीं। काम करने की जरूरत

है। गोविन्द गृहस्थ-घर की बूढ़ी-सयानी को ढूँढ़ता फिर रहा है। देखें, क्या होता है।'

'अच्छा, ऐसा? तो यों कहो कि अपमान, दुःख की चरम सीमा में अब हमें पहुँचना है और हमें जमींदार के घर दासी बनना पड़ेगा। बात यही है न?'

अभी अभी जो नीलिमा स्वाधीन जीविका के लिए उतावली हो रही थी, ईंट-गारा ढोने में भी गौरव समझ रही थी एवं उच्च जाति में जन्म लेना एक अभिशाप समझ रही थी, उसी नीलिमा के द्वार पर जब स्वाधीन जीविका की पुकार पहुँची, तो वह उससे विमुख हो बैठी और आत्म-सम्मान ने रक्त नेत्र खोले।

'बे-समझ की—कैसी बातें करती है। क्या यह कोई बारिन, महरी का काम है? रोटी रसोइया बनाता है। दास-दासी पचासों हैं। मैं तो रहूँगी मालकिन की भाँति, सब काम की व्यवस्था करना। दुर्गापूजा भी होगी, बिना कोई सयानी स्त्री के यह सब करेगा कौन? क्या यह अपमान का काम है? जमींदार शहर में अंग्रेजी कायदे से रहते हैं, क्या जाने बेचारे हिन्दू के रहन-सहन को? गाँव में वह हिन्दू-धर्म से रहना चाहते हैं। कौन ज्यादा दिन रहेंगे? ज्यादा-से-ज्यादा दो-तीन महीने।'

'करना है तो तुम करो जाकर। महरी बनो, महराजिन बनो, मुझसे यह सब कुछ न हो सकेगा, और न मैं इस तरह उपवास करके प्राण ही दे सकती हूँ। अभी से तुम्हें जता रही हूँ।'

व्यथित साँस हरमोहिनी के हृदय में मँडराने लगी। बोली—नहीं बेटी, मरना है तो मैं मरूँगी। जहाँ तक हो सकेगा, तुम दोनों को सुख से रखने की चेष्टा करती रहूँगी। दो दिन और ठहरो। अब उठो, भात बना लो। कवि आती होगी। एक पैसे का तेल ले आती हूँ, आलू बघार देना। वरना उससे खाते न बनेगा।

नीलिमा की हृदय ग्रंथि दुःख-व्यथा से निपीड़ित होने लगी। पल-भर में जाने कितने प्रश्न अन्तर में भीड़ लगाकर खड़े हो गये—क्या विधवा केवल अश्रद्धा की पात्री होती है? विधवा होना क्या उसका अपराध है? उसी माँ ने क्या मुझे जन्म नहीं दिया, जिसने कविता को दिया है? फिर ऐसा पार्थक्य क्यों?

क्या लज्जा-निवारण के लिए विधवा को वस्त्र का प्रयोजन नहीं है ? यदि है तो उसे वस्त्र क्यों नहीं मिलते और कविता को क्यों मिलते हैं ? मुँह के स्वाद के लिए यदि कविता एक पैसे का तेल भी पा सकती है, तो उसके लिए उपवास का विधान क्यों है ! आज के एकादशी उपवास के बाद कल उसे भोजन क्या मिलेगा ? केवल उबाला हुआ साग । मुट्ठी-भर चावल भी नहीं । किन्तु क्यों ? इसके बाद नीलिमा और विचार न सकी । आँसू पोंछती रसोई-घर में चली गयी ।

विरक्त स्वर से माँ बकती, झुँझलाती बाहर चली गयी---मिनट मिनट में लड़की का मिजाज बदलता है । रोने की अभी कौन-सी बात आ गयी ?

भात चढ़ाकर नीलिमा अपनी कोठरी में चली गयी, भीतर से द्वार बन्द कर लिया । तृषा से उसका कंठ सूखा जा रहा था । देर तक खड़ी कुछ विचारती रही, इसके बाद मिट्टी के घड़े से लोटा-भर पानी लिया और एक साँस में पी गयी । तृषा-शान्ति के साथ-ही-साथ भय ने उसे दबा लिया ! काँपती—वह शंकित दृष्टि से चहुँओर देखने लगी—एकादशी के दिन उसकी चोरी कहीं किसीने देख तो नहीं ली ? सहसा खुली खिड़की की ओर दृष्टि पड़ गयी । आतंक से नीलिमा सिहर उठी । जरूर किसीने पानी पीते उसे देख लिया ।

धर्म पुस्तक उसने पढ़ी न थी । अच्छर भी तो नहीं पहचानती थी, फिर पढ़ती कैसे ? हाँ, तो पुस्तकों से उसे कोई सम्बन्ध नहीं था । जानती केवल इतना थी कि हिन्दू विधवा को—निर्जला एकादशी-उपवास करना पड़ता है । यदि उस उपवास से प्राण निकल जायँ तो जाने दो, परन्तु पानी पीना पाप है । बचपन से इन बातों को वह जानती थी । माँ से और प्रतिवासिनी से ऐसा ही सुना करती थी । और भूलकर भी पानी के निकट नहीं जाती थी । यदि पानी देखने में प्यास लग आवे ? परन्तु—आज जाने कैसी इस सर्वग्रासी तृषा ने उसका धर्म-कर्म सब बिगाड़ दिया ।

वह खिड़की की ओर बढ़ी, विचारती जाती थी, यदि किसीने देख लिया हो तो बस, गाँव में रहना मुश्किल हो जायगा । न-जाने कैसे-कैसे प्रायश्चित्त करने पड़ेंगे । सब लोग उसके विरुद्ध हो जावेंगे, माता भी । केवल विमला बुआ सपक्ष में रहेंगी । वह तो कहती हैं—यह सब संस्कार है और कुसंस्कार । आत्मा को पीड़ित करना किसी भी धर्म-पुस्तक में कहीं लिखा है ? वकील के जैसे कानून

रहते हैं, वैसे यह सब भी मनुष्य के बनाये कुछ कानून मात्र हैं। क्यों और किस लिए ऐसे कानून की सृष्टि हुई, या उसकी हानि-उपकारिता के विषय में तो उनसे पूछा ही नहीं और न उनने कहा! फिर इसे पूछकर करती क्या?

एक ओर कानून है और दूसरी ओर निषेध, बस, उसके लिए इतना जान लेना तो यथेष्ट है न? यों सोचती-विचारती नीलिमा अन्त तक खिड़की पर पहुँच गयी। दूर नारियल के नीचे कविता और वकील का लड़का विभाष खड़े थे। नीलिमा की शंका जाती रही, वरन् उसका स्थान ले लिया एक कौतुक ने। वह छिपकर देखने लगी—उनके मुख की अम्लान हँसी को और नेत्र की स्निग्ध दृष्टि को। नीलिमा आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगी—कैसे वह आनन्द-आशा-पूर्ण, उद्वेगहीन मुख हैं! दोनों के मुख आशा, आनन्द में चन्द्रमा से मधुर हो रहे हैं। और मैं? अपने अन्तर की ओर नीलिमा ने दृष्टि फेरी। वह स्तम्भित हो रही। सुख, आशा, आनन्द, उत्साह, अवलम्बन के लिए एक तिनका? नहीं, कुछ भी नहीं है। है मात्र विडम्बित जीवन की लाञ्छना-भरी टोकनी और हाहाकार। नहीं-नहीं, खोयी हुई अतीत की कोई ऐसी मनोरम स्मृति भी तो नहीं है। अतीत वर्तमान और भविष्य निष्पेषित हो रहा है। केवल रिक्तता के भीतर से, व्यर्थता से, मात्र अभाव से बहाने के लिए आँसू भी तो नहीं हैं। फिर वह करे क्या, जाय कहाँ? कहाँ—कहाँ!

[६]

'अरी नीली, तेरे गोविन्द मामा आये हैं, बैठने के लिए आसन-वासन तो बिछा दे।'—हरमोहिनी ने पुकारा।

आसन बिछाकर नीलिमा ने आगन्तुक को प्रणाम किया। सुकान्त के जमींदारी का गोविन्द उच्चपदस्थ कर्मचारी था। अधेड़ उम्र का, गठीली काठी, छोटी और भावहीन आँखें, अधमैली धोती, मिरजई पहने गोविन्द हँस रहा था—कई बरस से इधर आना नहीं हुआ, बिटिया! तुम सबको मैं सदा याद किया करता हूँ। उस दिन तुम्हारी माँ मिल गयी। कहो बहन, क्या ठीक किया?

गोविन्द हरमोहिनी का कोई आत्मीय नहीं था, केवल ग्राम के नाते एक दूसरे के भाई-बहन लगते थे।

'जबकि तुम कह रहे हो भैया, वह कोई अपमानजनक काम नहीं है, तो मुझे आपत्ति क्या होने लगी ?'

हरमोहिनी के उत्तर को सुनकर उच्च स्वर से गोविन्द कहने लगा—अपमान ! कहती क्या हो बहन ? घर की मालकिन-जैसी रहोगी, देख-रेख करोगी, बस इतना ही। और हमारे जमींदार सुकान्त-जैसा सदाशय उदार व्यक्ति आजकल के दिन में दिखता कहाँ है ? तुम्हें भी एक महत् का आश्रय मिल जायगा। शायद कविता का विवाह भी वह करवा दें।

कविता भी पहुँच गयी, अन्तिम बात उसने सुनी तो पूछने लगी—किसका ब्याह, मामा ?

'तेरा !'

अप्रस्तुत कविता ने सिर नीचा कर लिया।

'जमींदार को तुमने कभी देखा है, माँ ?'—नीलिमा ने पूछा।

'बहुत पहले—एक बार।'—हरमोहिनी बोली।

'मैंने नहीं देखा। इतने दिन के बाद क्यों आ रहे हैं ? विशेषकर पूजा के समय कोई काम होगा, मामा ?'—नीलिमा ने कौतूहल से पूछा।

'काम यों तो कुछ नहीं है। बड़े आदमी का खयाल तो है, नीली। उनकी भतीजी और भी कई जने पहाड़ पर जा रहे हैं। जमींदार साहब मजिस्ट्रेट भी तो हैं न। तीन महीने की छुट्टी ले ली है और गाँव पर ही उनका मन चल पड़ा। दुर्गापूजा के समय तक उनकी भतीजी यहाँ आ जावेंगी।'—गोविन्द ने कहा।

'उनके घर में और कौन-कौन है ?'—नीलिमा का कौतूहल बढ़ता जा रहा था।

'जमींदार विपत्नीक हैं। पत्नी वियोग हुए कोई बीस-बाईस वर्ष हो गये होंगे। विवाह नहीं किया। अवस्था उनकी ज्यादा नहीं है। अपना-अपना विचार तो है। भाई की लड़की पपीहरा को उसने पाला-पोसा है। लोग कहते हैं, पपीहरा विधवा है। बस, वही लड़की उनकी आँखों की खुशी, मन का सन्तोष, सब कुछ है। सुना है—बचपन में पिया की शादी उसके पिता ने कर दी थी और उसी दिन लड़का हैजे से मर गया। इसके थोड़े दिन के भीतर पिया के माँ बाप को भी हैजे ने उठा लिया।'

'बेचारी विधवा !'—वेदना, सहानुभूति से नीलिमा का गला भर आया। उसने फिर पूछा—पनीहरा की अवस्था क्या होगी ?

'तुम्हारी उम्र की होगी।'—गोविन्द बोला।

'काका का इतना धन—ऐश्वर्य बेचारी विधवा कुछ भोग नहीं कर सकती; है न मामा ?'

नीलिमा के उस सरल प्रश्न पर गोविन्द हँस पड़ा—शहर में रहती है वह, और मजिस्ट्रेट साहब की लड़की है ! कॉलेज में पढती है, घोड़े पर घूमा करती है। भला, उसे दुःख किस बात के लिए हो ? पुनर्विवाह हो जायगा, बस।

'विधवा का विवाह ? आश्चर्य, आश्चर्य ! दिन-पर-दिन और भी कैसी विचित्र बातें देखने-सुनने को मिलेंगी। कलियुग है न ? कल्पना नहीं कर सकती हूँ भैया, कि स्त्री-जाति घोड़े पर सवार हो सकती है ?'—विस्मय से हरमोहिनी के नेत्र बाहर निकले पड़ रहे थे।

'बड़े घर में जाने कैसी अद्भुत बातें हुआ करती हैं ! गाँव में रहती हो, तुम क्या जानो कि शहर की हवा कैसी होती है ?'—गोविन्द ने गम्भीरता से कहा।

'कलियुग है भैया, तभी ऐसा अनर्थ हो रहा है। पाप के बोझ से पृथ्वी अब लौटना चाहती है।'—विज्ञ-भाव से हरमोहिनी बोली।

'वह तो होगा ही'—सिर हिलाता हुआ गोविन्द कहने लगा—ऐसा होने का ही है। पाप, अनाचार एवं व्यभिचार के भार से पृथ्वी दबी जा रही है। देखती नहीं—देश-का-देश सिर हिलाती हुई पृथ्वी निगल रही है। कह दिया—भूकम्प है। अँग्रेजी मत है। पृथ्वी की क्षुधा का नाम यह रख दिया और हम भी तोते-से रटने लगे 'भूमिकम्प !' कलकत्ते का नाम रख दिया—'केलकटा', हस्तिनापुर का 'डेलही' और ऐसे कितने ही नाम धरते जा रहे हैं। कहाँ का कम्प और कहाँ का पम्प ! अरे भई, बेचारी पृथ्वी पाप के बोझ को कहाँ तक सहे ? उसने खोला मुँह और गप्प से निगल गयी, चलो छुट्टी !

'क्या कहते हैं आप मामा, पृथ्वी क्या कोई प्राणी है, जो उसे पाप और पुण्य की अनुभूति होवे ?'—कविता खिलखिला पड़ी।

'अरी लड़की, चुप रह। प्राणी नहीं तो क्या है ? यदि उसमें प्राण का

स्पन्दन न रहता, तो इतने जीव जीते कैसे ? प्राण तो है ही, वह माता है न ? देखती नहीं, उसके स्तन से सदा हमारे लिए जीवन निकलता रहता है, धान से लेकर घास तक।'

'उपजाना तो धरती का स्वभाव और गुण है, मामा ! भूमिकम्प के कई कारण हैं, परन्तु पाप पुण्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

माता झुँझला पड़ीं—बड़ी आ गयी बूढ़ी, सयानी बनकर ! हट, चुप रह ! क्या जाने तू ?

'अंग्रेजी पढ़ाने का फल है।'—नीलिमा ने टोक दिया।

'मत डाँटो। लड़की है, अभी उसे क्या समझ ?'—गोविन्द ने कहा।

'लड़की है तो लड़की की तरह रहे, बूढ़ों की बात में क्यों बोलती है ?'—माँ बोली।

'क्योंकि पढ़ी-लिखी है न।'—दबी आवाज से नीलिमा ने कहा।

'बच्ची है, उसके कहने का मैं बुरा नहीं मानता। अच्छा, तो अब मैं जा रहा हूँ। तुम लोग तैयार रहना।'

गोविन्द चला गया।

'कहाँ जाना है, माँ ?'—कविता ने पूछा।

'जमींदार के घर।'

'क्यों—भला ?'

'वहीं हमें रहना है, न।'

'वहाँ हमें रहना है ? परन्तु वहाँ हम क्यों रहेंगी ?' विस्मय कविता के कण्ठ में पछाड़ें खा रहा था ! वह विस्मय गृहिणी को अच्छा न लगा—'इसमें अचम्भे की क्या बात है ? उनकी गृहस्थी मैं सँभालूँगी। सुन तो लिया होगा तुम दोनों ने। गोविन्द कह रहे थे न, उनके घर में गृहिणी नहीं है। हमें तीन कमरे और पलँग आदि मिलेंगे। भोजन भी। केवल हाथ-खर्च के लिए पचास और मिलेंगे। बस।' कविता गम्भीर हो गयी और कुछ न पूछा।

द्वार पर से विभाष ने पुकारा—काकी !

'आओ बेटा, अच्छे हो न ? कब आये ? कितने दिन की छुट्टी है ?'

'आठ दिन की।'

'आठ दिन की ? उन लोगों से कहते क्यों नहीं कि ज़रा छुट्टी ज्यादा बढ़ा दें। वर्ष में एक बार तो गाँव जाना है—वह भी कुल आठ दिन !'

'मेरे कहने से वह क्यों देने लगें, काकी ?'

'ऐसा ? तब तो बड़ा खराब है। शहर की सब बातें अनोखी होती हैं।'

विभाष मुसकराने लगा।

'तू हँसता है ? सच कहती हूँ बेटा, शहर की बातें सुन-सुनकर जी जल जाता है। यदि मेरा वश चलता, तो दो दिन में सुधार कर देती।'

'क्या करती काकी ?'—हँसी से विभाष का पेट फूलने लगा।

'प्रायश्चित्त तो पहले कराती !'

'हम जा रहे हैं, विभाष भैया !'—नीलिमा कह उठी।

'कहाँ ?'

इशारे से कन्याद्वय को निषेध कर गृहिणी बोली—अपने भाई के घर जा रही हूँ, भैया।

[७]

बाहर जाते समय विभूति कहता गया था कि उसे लौटने में देर लगेगी। कारण पूछने पर बोला था—मित्र के घर निमन्त्रण है। पिया सिनेमा जाने के लिए तैयार होने लगी ; परन्तु कुछ देर में उसका मत-परिवर्तन हो गया। हठ कर बैठी कि यमुना के बिना जायगी नहीं। यमुना पड़ गयी संकट में—'पति से पूछे बिना जाय कैसे ?'

यद्यपि सिनेमा-थिएटर में पत्नी का जाना विभूति को पसन्द नहीं था, तथापि यहाँ रहते हुए उसे बाध्य होकर पत्नी को सिनेमा भेजना पड़ता था। यदि दुनिया में वह किसीसे डरता था तो मामाश्वसुर से।

सोच-विचारकर यमुना ने कहा—उनसे पूछा नहीं ? उनके सामने तुम कुछ न बोलीं ?

'रहने भी दो, इन्हें-उन्हें पूछने की ! शादी की है तो मानो मोल ले बैठे हैं। तू दबती जाती है दीदी, तभी तो वह दबाते जाते हैं। मेरे साथ आज चलना पड़ेगा।'—उच्च स्वर से पिया ने कहा।

'उनसे पूछे बिना चलूँ कैसे ?'—यमुना के एक ओर थी द्विविधा, दूसरी ओर था संकोच।

'नहीं पूछा, तो क्या फाँसी पर लटका देंगे ?

'अभी तू नहीं समझ सकती पिया, शादी के बाद समझेगी। पत्नी का भी तो कोई कर्तव्य रहता है न ?'

'बला से। समझो तुम। मैं मर्द से शादी करने की नहीं। बाहर एक और भीतर दूसरे, वह दो प्रकार के होते हैं। मर्द से मैं घृणा करती हूँ—आन्तरिक घृणा। उन्हें देख नहीं सकती, सह नहीं सकती। उनके आचार-व्यवहार देख देखकर मुझे हँसी आ जाती है। तू समझती है दीदी, मैं उस बहुरूपी जाति से शादी करूँगी ?'

'देखा जायगा, पिया! अरी पगली, उस जाति के सिवा हम स्त्रियों को पार लगानेवाला दूसरा है कौन ?' यमुना मुसकराने लगी।

'पार लगावे वह तुम-जैसी भीरु स्त्रियों को। तुम देखना, मैं उनसे शादी करने की नहीं।'

'तो क्या किसी स्त्री से शादी करेगी ?'

'हाँ, दीदी भाई, मैं तुमसे विवाह करूँगी! खुशी से हमारे दिन कट जायँगे।'—आदर सोहाग से वह बहन के गले से लिपट गयी। और यमुना ने उसके छोटे से माथे को चुम्बनों से भर दिया।

'सच बहन, वह जाति प्रतारक होती है। अचानक यमुना के मुँह से बात तो निकल गयी, किन्तु ऐसा लगने लगा कि उन निकले हुए शब्दों के लिए वह अनुतप्त हो रही है। पिया के नेत्र से कुछ भी छिपा न रह सका।

'दीदी भाई, यह प्रतारणा है, गहरी प्रतारणा और अपने ही साथ। सत्य को तुम छिपाना चाहती हो। देख रही हूँ—तुम्हारी आत्मा इससे कैसी दुखी है, किन्तु फिर भी एक सच्ची बात मुँह से अचानक निकल जाने के लिए तुम पछता रही हो। है न यही बात ?'

'जाने दे इन बातों को। तू भी अच्छी पगली है। चल, कहाँ चलती है ?'—यमुना जबरन हँसने लगी

किन्तु पपीहरा ने हिलने का नाम भी न लिया, फिर चलने की कौन कहे ?

उपरान्त कहने लगी—अब मैं कुछ-कुछ समझ रही हूँ। तुम्हें बहुत सहना पड़ता है। विस्मय से विचारती हूँ, विवाह के बाद क्या नारी अपनी आत्म-मर्यादा को खो देती है? क्यों तू अत्याचार सहती है, दीदी?'

'मैं? अत्याचार कहाँ पिउ? और यदि है भी तो उसे निर्विवाद कहाँ सहन कर सकती हूँ? जिस दिन वैसा कर सकूँगी, जिस दिन अपनी सत्ता को भूल सकूँगी'—यमुना विषाद-खिन्न कंठ से कहने लगी—'उस दिन—हाँ, उस दिन मुझ-सी सुखी पृथ्वी में और कौन हो सकेगी, पिया? बस, वही तो एक बात है, बहन! उस आत्म-मर्यादा की अनुभूति से कभी-कभी मैं अस्थिर हो जाती हूँ। आत्माभिमान, आत्ममर्यादा, बहुत कुछ जीवित है न इस हृदय के भीतर! जीवित है बस इतना ही। उनमें जीवन का स्पन्दन तीव्र नहीं है, जराग्रस्त वृद्ध से पड़े हैं। कभी वह मचल पड़ते हैं, तब जरा संकट में पड़ जाती हूँ। उन्हें शान्त करने में तेरी बहन को कितनी शक्ति व्यय करनी पड़ती है, यदि इस बात को जानती पिया तू, तो कदाचित् ऐसे प्रश्न को न उठाती।'

'एक दिन इसी आत्म-सम्मान को लेकर सखी-सहेलियों में कैसा गर्व किया करती थी; परन्तु आज वही आत्म-सम्मान सिर पीटा करता है—इसी छाती में। परिवर्तनशील है मनुष्य का स्वभाव, फिर मैं करती क्या?'

'इन बातों को मैं नहीं समझती, दीदी! मेरे तो विचार से 'सेल्फ रेस्पेक्ट' नारीमात्र को रहना चाहिए। उसके बिना जो जीवन है, वह तो है पशु का जीवन।'

'ठहरो पिया, कहती हूँ—क्या पति से अधिक आत्म-सम्मान का मूल्य है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है। वह आत्म-सम्मान कैसा भी मूल्यवान्, प्रतापी क्यों न हो, किन्तु पति के ऊपर उसका स्थान नहीं है और न वह नारी के प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और कर्तव्य को लाँघ ही सकता है।'

'ऐसा?'

'हाँ, ऐसा। उसमें उतनी शक्ति है कहाँ?'

'किन्तु मैं कहती हूँ—यह स्वेच्छाचार, अत्याचार को प्रश्रय देना है और है आत्म-हत्या।'

'नहीं, नारी अपने सुख-सन्तोष के लिए दूसरे को दुखी नहीं कर सकती।

भूलती क्यों हो पिया कि तेरी दीदी उसी हिन्दुस्तान की एक नारी है, जहाँ की वायु आज भी नारी के त्याग, कर्तव्य-निष्ठा और सहनशीलता से निर्मल हो रही है।'

'बस, यही तो एक बात है। पुरातन की महिमा-कीर्तन के सिवा और हिन्दुस्तान में रह ही क्या गया है? वह जो पुराने की महिमा—नारी का त्याग, निःस्वार्थता आदि शब्द हैं, जिन्हें कि तुम स्त्रियाँ तोते-जैसा रट लिया करती हो, वे आज भारत की स्त्रियों का अनिष्ट कर रहे हैं, दासीत्व का पाठ सिखा रहे हैं, उपरान्त मर्द को भी सर्वनाश के मार्ग में खींचे लिये जा रहे हैं। पुरुष जानते हैं कि लाञ्छना, अपमान, अत्याचार आदि को तुम नारी हँसकर सह लोगी। क्यों? उसी पुराने सम्मान को बचाने के लिए, लोक-लज्जा से। किन्तु मैं जोर देकर कह सकती हूँ, त्याग करने की वास्तविक प्रेरणा तुममें है नहीं। यदि वस्तुतः वैसी इच्छा रहती तो पुरातन की दुहाई कभी नहीं देती। वास्तविक वैसी प्रवृत्ति प्रशंसनीय के साथ-ही-साथ श्रद्धेय भी है। किन्तु यह तो नकली है। और इस-लिए यह जैसा ही घृणित है, वैसा ही कुत्सित भी। इस अपने-आपकी प्रतारणा को घृणा के सिवा और क्या कहा जा सकता है? तुम देखती नहीं हो दीदी—कि इस प्रतारणा से हम कितने नीचे गिरते जा रहे हैं? अपनी सत्ता मिटाकर सेवा करना इसे नहीं कहा जा सकता; वरन् उस सत्ता को दुर्गन्ध-कूप में ढकेल देना कह सकते हैं। पुरातन के गर्व में मोहित होकर सोच रही हो —बड़ा त्याग, एक-निष्ठ कर्त्तव्य कर रही हो, परन्तु इसे नहीं समझ रही हो अपनी सन्तान के लिए, नारी-जाति के लिए। तुम्हारे पीछे—रह जायगा, हाँ—परिणाम-स्वरूप बचेगा—वही पुराने की महिमा की झूठी स्तव-स्तुति, मिथ्या, सराहनीय गर्व। न कभी वास्तव की खोज होगी और न नूतन सृष्टि की प्रेरणा होगी। मैं तो पहली बात यह जानती हूँ कि अपनी सत्ता और आत्म-मर्यादा को किसीके लिए भी छोटा नहीं करूँगी।'

'बहुत कुछ बक गयी पिया, मैं पूछती हूँ, अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए पत्नी पति के निकट से चली गयी;—स्त्री-धर्म-त्याग, कर्तव्य, स्नेह, प्रेम इन सबको छोड़ दो।—हाँ, तो वह चली गयी। फिर खायगी क्या? बच्चों को पालेगी कैसे? सोचो, किसी स्त्री के नैहर में पिता, भाई आदि कोई नहीं है, तो

अकेली जवान स्त्री जायगी कहाँ ? ऐसी स्त्री बहुत थोड़ी हैं जो कि अपने-आपका प्रतिपालन कर सकती हैं। इस बात को तो जरा विचारो !'

'आन्तरिक इच्छा एक ऐसी चीज होती है कि उसके बल पर हम सब काम कर सकती हैं ! नीच जाति की स्त्री अपने-आपको कैसे पाल लेती है ? नहीं वरन् बाल-बच्चे भी पालती हैं। स्वयं उपार्जन करती हैं। किसी दूसरे देश की बातें नहीं कहती, हमारे ही देश में ऐसा हुआ करता है। स्वाधीन तो वही है जो अपनी जीविका उपार्जन कर सके। दास वृत्ति को छोड़कर अपने-आप पर निर्भर रहना भी सीखना है। क्या हमारा पातिव्रत इतना छोटा ऐसा अशक्त है कि घर के बाहर जाते ही से वह लुट जायगा ?'

'उन्हें अभ्यास है। बनी-मजूरी करने में न उन्हें लज्जा है न शर्म। दूसरी बात, वंश-अभिमान को हम छोड़ें कैसे ? चाहे भूखे-प्यासे घर में प्राण भले ही दे दें ; किन्तु उस वंश की मर्यादा को हम कैसे छोड़ सकते हैं ? अपने पूर्व-पुरुषों के नाम को कैसे डुबा सकते हैं ? तीसरी बात, हमारा पातिव्रत ऐसा बड़ा, ऐसा महान् है कि उसके बल पर हम बहुत-कुछ सह सकते हैं, और सहते भी हैं। केवल कर नहीं सकते उसका अपमान, उसका अनादर ; कर नहीं सकते हम पति का अपमान। वही तो एक बात है पिया, उसी पातिव्रत के बल पर ही न हम अँधेरी रात में सूर्य किरण का आभास पाते हैं, अत्याचार को आशीर्वाद समझते हैं, और दैन्य-अभाव को वरदान समझते हैं। दुनिया जबतक है, तबतक हमारा पातिव्रत भी अक्षुण्ण, अम्लान और उज्ज्वल है !'

पपीहरा जोर से हँस पड़ी—भूल, भूल, केवल मोह ! उस मिथ्या, अभिशप्त पातिव्रत का विनाश एक दिन हो जायगा और नारी की वास्तविक शक्ति एक दिन चमक उठेगी, अपने यथार्थ रूप को वह देख पायेगी। अपने-आप पर निर्भर रहना वह सीखेगी। पहचानेगी आत्म-सम्मान को, पहचानेगी अपनी शक्ति को। क्रीतदासी, विनीत सेविका का उस दिन अवसान हो जायगा। रहेगी मात्र नर की शक्ति कल्याणमयी नारी।

'चुप भी रह, पिया ! न-जाने किस देवता ने तुझे स्त्री बना दिया है। जाना है तुमने केवल दुनिया का व्यंग्य करना और चाबुक सँभालना। पूछती हूँ, यदि तू निडर है तो दिन-रात रक्षा-कवच-सा चाबुक अपने साथ क्यों रखती है ?'

'वक्त पर काम आने के लिए। कभी समय आ पड़ा तो लगा दिये—दो-चार।'—परम गम्भीर मुख से पपीहरा ने उत्तर दिया।

उसके कहने की रीति से यमुना खिलखिला पड़ी।

'हँसी क्यों, दीदी?

'पहाड़ी लड़की है तू। न डर है, न संकोच, न द्विविधा।'

'औरत, मर्द सबको साहसी होना चाहिए। प्रत्येक को व्यायाम करना और लाठी चलाना सीखना चाहिए।'

'इसीसे तू लाठी सीख रही है?'

'बड़ा अच्छा लगता है। मैं तो दीदी भाई, घर के कोने में मुँह छिपाकर रो नहीं सकती और अदृष्ट की दोहाई देकर अत्याचार को भी सह नहीं सकती, न किसीके मान-सम्मान को बचाने के लिए मर्द के पैरों तले लेटी रह सकती हूँ।'

'ऐसा?'

'हाँ, ऐसा! मैं पपीहरा हूँ और पपीहरा होकर ही रहना चाहती हूँ।'

'कौन जाने बहन! पति, पुत्र, आत्मीय, कुटुम्ब को त्यागकर जो जीवन है, उसमें तो मैं सौन्दर्य, मिठास कुछ नहीं देख पाती।'

'और बातों में बहलाकर सिनेमा में जाना भी बन्द करना चाहती हो। बड़ी चालाक हो गयी हो तुम। अच्छा, अब उठो, कपड़े बदल डालो। तबतक मैं काका को तैयार कर लूँ।'

वह दौड़ती हुई लायब्रेरी में चली गयी। बोली—अरे काका! तुम बैठे पढ़ रहे हो?

'क्यों बेटी?'

'सिनेमा चलना नहीं है?'

'कहाँ चलना है, पिया?'—किताब पर से मुँह उठाकर सुकान्त ने पूछा।

'सिनेमा—सिनेमा।'

'सिनेमा?'

'हाँ हाँ, सिनेमा। कैसे भूलते हो, काका! क्या भूल गये?'

'ठीक तो है। देखा न चिटिया, बिलकुल भूल गया था, इधर एक जरूरी

राय लिखना है । आलोक और रमेश को बुलवा लेने से न चलेगा, पिया ?'—सिर खुजाते हुए संकोच से जमींदार ने कहा ।

'अच्छा, तो उनमें से किसी को बुलवा लेती हूँ । ब्वॉय !'

'ब्वॉय' पहुँचा तो पिया ने कहा—भट्टाचार्य साहब को सलाम दो । जरूरी काम है । समझे ? जल्दी बुलाओ । आलोक भट्टाचार्य साहब ।

ब्वॉय चला गया ।

'उसे रोक लो बेटी, मैं चलता हूँ ।'

'नहीं काका । तुम लिख लो, वरना वहाँ से लौटकर रात-भर बैठे लिखोगे । समय पर भोजन कर लेना, हमारे लिए बैठे न रहना !'

'अच्छा, अच्छा, तू तो जा !'

पिया जाते-जाते लौटी—समझे न काका, भोजन कर लेना—कहीं भूल न जाना ।

'कर लूँगा, चिटिया !'

'और सुनो—'सूप' पूरा पी लेना ।'

'और ? दूसरे जन्म में क्या तू मेरी माँ थी—पगली ?

'थी, और जरूर थी । थी न काका—?'

'थी, बेटी । तभी तो तू खाने-पीने के लिए दिन-भर मुझे डाँटती रहती है ।'

'माँ क्या केवल डाँटती है काका ?'—क्षुब्ध स्वर से उसने पूछा ।

जल्दी से जमींदार बोले—माँ का डाँटना ! वह तो स्नेह का दूसरा रूप है, जैसा कि मेरी इस छोटी-सी माँ के डाँटने में रहता है ।

अत्यन्त आनन्द से पिया चली गयी, उसे पूर्ण सन्तोष मिल गया और स्नेहपूर्ण नेत्र से सुकान्त उसे देखते रह गये, जबतक वह दृष्टि के बाहर न हो गयी ।

[८]

फाटक पर खड़ी पपीहरा आलोक के लिए अधीर होने लगी और मोटर में बैठी यमुना मुसकराने लगी ।

'आलोक बाबू न आयेंगे । चलो, हम दोनो चलें ।'—असहिष्णु पिया कह उठी ।

'पगली, हम दो स्त्रियाँ अकेली कैसे जा सकती हैं? वहाँ न-जाने कितने गुण्डे रहते हैं।'

परम निश्चिन्त मुख से पिया ने अपने हाथ के चाबुक को देखा, फिर कहा—नहीं, हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे? मैं तेरे साथ हूँ, फिर डरती क्यों है दीदी!

'वाह-वाह! क्या कहना है वीर पुरुष का!'—यमुना हँसते हँसते लोटने लगी।

'ऊँ—हूँ, गलती है। लिंग-ज्ञान तुमको नहीं है। पुरुष नहीं, वीर नारी कहो।'—विज्ञ-भाव से पिया ने कहा।

आलोक पहुँच गया। साइकिल टिका दी, पूछा—कोस-भर दूर से हँसी सुन रहा था। बात क्या है?

यमुना के हँसने का कारण समझ सकने के साथ-साथ पिया मन में झुँझला रही थी। कहा—हँसनेवाली गाड़ी में बैठी हैं, पूछो न उनसे।

गाड़ी के भीतर झाँककर संकुचित आलोक बोला—देवीजी...

'वाह-वाह। अरे यमुना देवी, कहिए न। मेरी दीदी मेरी ही तरह एक स्त्री हैं। नहीं-नहीं, भूल हो गयी। मेरी-सी चंचल नहीं, वरन एक सीधी-सादी, बेचारी स्त्री हैं। और आप हैं—श्रीयुत आलोक भट्टाचार्य, एम०एस्-सी०। लीजिए, परिचय करा दिया।'

एक ने दूसरे को नमस्कार किया।

आलोक ने पूछा—नौकर कह रहा था, कोई जरूरी काम है।

'है तो, अब देर न करें। मोटर में बैठ जाइए।'

'कहाँ चलना होगा?'

'अण्डमान द्वीप।'

'आप तो हँसी करती हैं, पिया देवी।'

'बैठिए न, आप तो स्त्री-जैसे डरते हैं। कहीं जेल-वेल में थोड़े ही चलना है।'

धीरे से यमुना बोली—केवल लोगों को तंग करना। सिनेमा चलना है।

'यही जरूरी काम था?'

आलोक को मुसकराते देखकर पिया जल गयी—हाँ, है तो यह एक जरूरी काम। सिनेमा में जाना—मैं तो इसे जरूरी काम समझती हूँ।

यमुना ने उसे शान्त किया। और तीनों मोटर पर बैठ गये। भागी-भागी गाड़ी सिनेमा के द्वार पर पहुँच गयी।

इन्टरवल के बाद यमुना ने पिया का वस्त्र पकड़कर खींचा। तीनों बैठे थे बाक्स में।

पिया ने धीरे से पूछा—क्या है ?

'जरा उस ओर देखना।'

पिया ने मुँह फेरा। देखा—उसके ठीक नीचे एक सुन्दर पुरुष सिर घुमाकर देख रहा है और उसीको। उन आयत नेत्रों में और क्या रहा-न-रहा सो पिया नहीं जानती, परन्तु इतना वह जोर के साथ कह सकती थी कि उन नेत्रों में था गहरा विस्मय।

'कैसा असभ्य है!' विरक्त पिया कह उठी।

'मैं तो देर से देख रही हूँ। बड़ा अनकल्चर्ड-सा जान पड़ता है। लौट-लौटकर केवल इसी ओर निहार रहा है।'—आलोक बोला।

'दीदी, देखो, जीजा भी आये हैं। उस असभ्य व्यक्ति से कैसे मजे से बातें कर रहे हैं। लगता है, हमें इनने देख लिया।'

'शायद वह विभूति बाबू के मित्र हों।'—आलोक ने कहा।

'जीजा के पास कैसी सुन्दर स्त्री बैठी है। अरे-अरे यह क्या, दीदी तुम्हें क्या हो गया? आलोक बाबू, पकड़िए-पकड़िए!'

किन्तु यमुना तबतक अचेत हो गयी थी। ऊपर का दृश्य देखकर विभूति दौड़ा। साथ में वह व्यक्ति भी लपका आया, जो ऊपर देख रहा था। और तब सबने पकड़कर यमुना को लिटा दिया। पानी के छींटे से शीघ्र यमुना की सुध लौटी। वह उठकर बैठ गयी।

'यदि आज यहाँ आने का विचार था, तो सबेरे मुझसे कह दिये होती। और समझ सकती हो, यदि मैं यहाँ न होता तो कैसा सर्वनाश हो जाता!'

उन तीनों में से किसीको समझ में न आया कि वे बातें किसके उद्देश्य में कही जा रही हैं। परन्तु उत्तर दिये बिना पिया कब रह सकती थी? बोली—होता क्या? मैं थी, आलोक बाबू थे। क्या हम दोनों आदमी नहीं हैं? फिर होता क्या?

'ऐसे स्थान में छोकड़ों के साथ आना निरापद नहीं है ?'

'तो विपद कौन-सी है !'

'तुम तो चिढ़ती हो, पिया !' विभूति कहने लगा—इन छोकड़ों का कौन सा भरोसा ? किस वक्त कौन-सी बात हो जाय, क्या यह सँभाल सकते हैं ?

विभूति के कंठ का परिहास आलोक और पिया को विद्ध करने लगा।

'मैं तो अकेली आने में भी कोई बाधा नहीं देखती। न काका ने कभी रोका।'

'बस, यही तो एक बात है। मामाजी ने ही तो ऐसी स्वाधीनता दे रखी है।'

'यदि स्वाधीनता है, तो मैं उसका उपयोग करना भी जानती हूँ, जीजा। वन्य जन्तु यदि हैं तो रहें, मेरा वे क्या बिगाड़ सकते हैं ? दूर से चीखा-चिल्लाया करते हैं और क्या करेंगे, निकट आने का साहस उनमें है कहाँ ?'

विभूति कुछ कहने जा रहा था, किन्तु साथी ने बाधा देकर कहा—स्त्रियों से तर्क करते जाना अपने-आपको अपमानित करना है, विभूति ! न-जाने ये लोग अपने को क्या समझा करती हैं। जहाँ दो पन्ने इंगलिश पढ़ लिये, तो अपने को स्वयं विधाता समझ बैठीं। चाबुक हाथ में लेकर अपने को वीर नारी समझने लगीं। मर्दों को गाली देने में द्विविधा नहीं करतीं। उधर इन्हीं जंगली जानवरों के बिना उनका चलता भी तो नहीं है। मजा तो यह है—कुछ समझें या न समझें, हर बातों में उन्हें तर्क करने का शौक हो उठता है और चटपट बोलने लगती हैं।

'ठीक कह रहे हो, निशीथ !'—विभूति उत्तर में बोला।

निशीथ विभूति का मित्र था।

'फ़ैशन के लिए स्त्रियाँ चाबुक नहीं रखतीं महाशय ; किन्तु उन असभ्यों के लिए कभी-कभी चाबुक की जरूरत पड़ जाती है, जो कि सिनेमा के चित्रों को देखना छोड़कर पर-नारी का मुँह ताकना अधिक पसन्द करते हैं।'—पिया आपे से बाहर हो रही थी।

'उसे देखने में कदाचित् केवल आश्चर्य रहता हो। कुछ नूतन देखने से विस्मय का आना स्वाभाविक है। स्त्री के मुँह में सिगरेट, शराब की प्याली अथवा चाबुक ये वस्तुएँ नूतन के साथ-ही-साथ आश्चर्य-जनक भी तो हैं न ? और विशेषकर हिन्दुस्तान की स्त्रियों के लिए देखते-देखते शायद यह भी हिन्दुस्तान

की दृष्टि में कभी सह जावे, ऐसा हो सकता है ; परन्तु अभी तो वह एक नूतन और अद्भुत दृश्य है। और अद्भुत वस्तु में एक ऐसी आकर्षण-शक्ति रहती है कि वह स्वयं दूसरों की दर्शनीय बन जाती है। अच्छा, नमस्कार विभूति, देर हो रही है, मैं चला।'

वाद-प्रतिवाद का अवसर दिये बिना निशीथ घोषाल चल दिये।

और पपीहरा ? क्रोध, घृणा से बावली-सी यमुना के साथ मोटर पर जा बैठी।

[६]

कविता बहन की सहायता करने तो गयी, परन्तु हो गया उसका उल्टा। तेल का कटोरा उलटकर, नमक गिराकर, मदद देने के बदले वह हानि पहुँचा बैठी बहुत।

रसोई-घर में प्रवेश कर नीलिमा स्थाणुवत् अचल हो रही—माँग-जाँचकर तो थोड़ा-सा नमक-तेल मिल गया था। वह भी तूने गिरा दिया। कल एकादशी का निर्जला उपवास था। आज भी उपवास ही रहना पड़ेगा। अरे राम, रानी बहन ने पत्ते पर जरा-सा घी धर दिया था, उसे भी पैर से रौंद डाला।

'न जाने मैंने कौन-सा पाप किया था, जो आज मैं भरपेट भोजन के लिए तरस रही हूँ।'

क्रोध, अभिमान, क्षुधा से विकल नीलिमा रो पड़ी—रो पड़ी। सर नीचा किये कविता दुःख, लज्जा से काँपने लगी। व्यथा से उसका हृदय निपीड़ित होने लगा। सच तो है, आज वह यह कैसा अनर्थ कर बैठी ? उसके भी आँसू भर आये, बेचारी बहन दिन-रात जाने कैसा परिश्रम किया करती है, उसपर भर-पेट भोजन भी नहीं मिलता। एकादशी की उपवासी माँ, बहन के लिए कहाँ वह भोजन बनायेगी, वह तो चूल्हे में गया, उपरान्त उनका भोजन खराब कर बैठी। आँखें पोंछकर कविता ने चहुँओर देखा—नीलिमा कहीं न दिखी। कब अपनी कोठरी में जाकर नीलिमा पड़ रही थी, यह सब कुछ कविता नहीं जान पायी। वह चूल्हा जलाने बैठ गयी। अनभ्यस्त हाथ से वह जला भी तो बड़ी देर में और कविता को रुलाकर। धुएँ से उसकी नाक और मुँह फूल गया। आँखें सूज गयीं। उसने कभी भोजन बनाया न था, माता ने कभी उसे रसोई-घर में जाने भी तो नहीं

दिया था। पहले-पहल भात बनाने बैठी, तो भात जल गया और हाथ भी। मारे जलन के वह विकल होने लगी।

मुहल्ले से हरमोहिनी लौटी। रसोई-घर में झाँका, शंकित मुख से पूछा—तू रोटी बना रही है? और राजरानी कहाँ गयीं? अरी, रोती क्यों है? जल तो नहीं गयी?

'भात सब जल गया, माँ!'—कविता ने अश्रुपूर्ण नेत्र उठाये।

'जल जाने दे। तू तो नहीं जली! जल गयी? देखें--देखें। या राम! यह क्या हो गया, हाथ जल गया। क्वाँरी लड़की है। अब मैं क्या करूँ? तू क्यों गयी रोटी बनाने? उसे क्या हो गया? यदि उस नवाब की बेटी का जी खराब था, तो मुझे क्यों न बुला लिया? क्या मैं मर गयी थी?—बड़बड़ाती हुई हरमोहिनी ने चूने के पानी में नारियल का तेल डालकर मथ डाला और कविता के हाथ पर लेप चढ़ा दिया, और वैसे ही बड़बड़ाने लगीं—

'जरा-सी लड़की, उसे रसोई में बैठाकर आप पड़ रही। कौन-सा काम किया जो थक गयी? मेरे यहाँ कौन काम है? कुल तीन प्राणी हैं। रहती ससुराल में तो सब नवाबी निकल जाती। छोटी बहन की ईर्ष्या में जली मरती है।'

'तुम अपनी धुन में लगी हो, मेरा कुछ नहीं सुनती। दीदी ने मुझे नहीं कहा, अपनी खुशी से मैं रोटी बनाने आयी थी, नोन-तेल गिरा दिया और भात जलाया। उसका क्या कसूर है? बेचारी दीदी कल से भूखी है, आज भी भोजन न मिला।'

नीलिमा ने माता के तीखे वचन सुने, तो कलह-स्पृहा बलवती हो गयी। वह भागी-भागी आयी कुछ खरी-खरी सुनाने को, किन्तु यहाँ की बातें उसने निराली पायी! कविता के कण्ठ को सहानुभूति ने उसे पानी-सा निर्मल, स्वच्छ बना दिया, उस मीठे वचन से वह क्षुधा, तृषा को भूल गयी और दबे-पाँव लौटी।

सन्ध्या-समय कविता बहन के सिरहाने जाकर बैठ गयी। एक छोटी टोकनी में कुछ लायी, मुरमुरा और नारियल के लड्डू लायी थी। टोकनी उसके सामने रख दी। धीरे से बोली—दीदी, कुछ थोड़ा-सा खाकर पानी पी लो।

नीलिमा प्रसन्न थी। अभी कुछ पहले वह पड़ी सोच रही थी—गोविन्द के

मुँह सुनी कहानी, उसी जमींदार कन्या पपीहरा की बातों को। कहानी नहीं तो क्या? उसके निकट तो वे सब बातें कहानी-सी ही लगतीं। आदर से कविता को उसने बिलकुल पास बैठा लिया, पूछा—लड्डू तुझे कहाँ से मिले?

'माँ लायी थीं। तुम खाओ, मैं पानी ले आऊँ।'

'जल्दी क्या है, खा लूँगी, तू बैठ।'

विस्मिता कविता बैठ गयी। स्नेह-आदर से उसे अपने निकट बैठाना ऐसा ही नूतन था कि कुछ देर तक कविता बात न कर सकी।

नीलिमा ने पूछा—उस दिन गोविन्द मामा जो कुछ कह रहे थे, क्या वे बातें सच हैं?

ना-समझ की तरह कविता बहन का मुँह निहारने लगी।

'समझी नहीं? भूल गयी? वह कहते न थे कि जमींदार की विधवा बेटी गहने-कपड़े पहनती है, सेण्ट-पाउडर लगाती है। सच हैं ये बातें?

'पहनती होगी तभी तो वह कह रहे थे'

'वही तो पूछ रही हूँ—बात सच्च है न!'

'वह झूठ क्यों कहेंगे? और इसमें हानि क्या है?'

'तू तो जाने कितनी ही पुस्तकें पढ़ा करती है, तो ऐसी बातों के लिए किताब में निषेध नहीं है?'

'इस बारे में किताबों में मैंने कभी कुछ पढ़ा नहीं, दीदी! हानि न होगी, तभी तो वह पहनती है।'

किन्तु इस सरल उत्तर से बड़ी का जी न भरा।

'कहती क्या है? किताबों में ऐसी बातें नहीं रहतीं—तो मौसी, माँ, बुआ आदि कैसे कहा करती हैं कि विधवा को ऐसा नहीं करना, वैसा नहीं करना। कहती हैं, बाल सँवारना, साबुन आदि लगाना भी विधवा के लिए अपराध है, फिर गहने-कपड़ों की कौन कहे। उनका कहना है कि इन सबके लिए किताबों में निषेध है।'

'ऐसा कहीं हुआ है? किताब में शायद ही ऐसा हो।'

'कौन जाने। मैं यह सब नहीं जानती।'

'कुछ नहीं जानती?'

'नहीं। अब जाऊँ न ?'

तू बड़ी चंचल है, जरा बैठ न। पढ़ना और पढ़ाना। अरे बहन, पढ़ लेना, कहीं भागा जाता है पढ़ना ? मैट्रिक-परीक्षा के तीन दिन बाकी हैं। घबराती क्यों है ! जरा याद तो कर, अंगरेजी पुस्तकों में इस बारे में कुछ लिखा है या नहीं ?'

'शायद नहीं है। जो जिसे पसन्द आवे, उसे वह किया करे। इसमें भला निषेध कैसा ? गहने-कपड़े ही पर कुछ हमारा धर्म थोड़े ही निर्भर रहता होगा ?'

जरूर कुछ है, तू अभी लड़की है, क्या जाने इन बातों को ?'

'लो, विभाष भैया भी आ गये, उन्हींसे पूछो न, किताब में है या नहीं ?'

'बात क्या है ?' परम कौतुक से विभाष ने पूछा।

'बैठ जाओ, मैं कहती हूँ।' नीलिमा बोली।

विभाष बैठ गया तो फिर कहने लगी—'सुनती हूँ, शहर की विधवाएँ आचार-नियम का पालन नहीं करतीं, कॉलेज में पढ़ती हैं, गाना गाती हैं याने सधवा या कुँआरी-सी रहती हैं। क्या यह सच है ?'

'हाँ। फिर इसमें आश्चर्य की बात कौन सी ?'

विभाष मुस्कराने लगा।

'वही तो पूछती हूँ। कविता कुछ ठीक ठीक कह न सकी। ऐसा करने में अपराध नहीं है ?'

विभाष जोर से हँसा—अपराध, पाप कहकर दुनिया में कुछ है ही नहीं। वह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है और मन की भ्रान्ति। एक कार्य को कोई पाप की दृष्टि से देखता है, कोई नहीं। विधवा भी तो मनुष्य ही है न ? मनुष्य की तरह उसके आत्मा है, मन है, प्राण है। है क्या नहीं ? और इस बात को अस्वीकार भी कौन कर सकता है ? और यदि अस्वीकार नहीं कर सकता है, तो यह मन निस्पृह भी कैसे हो सकता है ? उस मन में भी तृष्णा है, क्षुधा है, उन नसों में भी सिहरन है, स्पन्दन है। है क्या नहीं ?

'तो विधवा को दुनिया के कोने में इस तरह मुँह छिपाकर क्यों रहना पड़ता है ?'

नीलिमा के उस आतुर स्वर से विभाष चौंका, दबी हँसी उसके ओठों पर

थिरकने लगी। बोला—घर की बड़ी-बूढ़ी के कुसंस्कार और विधवा की भीरुता इसकी दाई है।

'कुसंस्कार किसे कहते हैं?'

'कुसंस्कार? याने—याने बचपन के संस्कार। माने—ई—ए...'

'चुप भी रहो, विभाष भैया।' गम्भीर प्रकृति की कविता हँसी, तो हँसते-हँसते लोटने लग गयी। वह हँसती जाती थी और कहती जाती थी—जरा-सी बात न समझ सके, आये हैं पाप और पुण्य की बात समझाने, बैठे हैं हिन्दू-धर्म और व्यवहार की आलोचना करने। पहले खुद तो समझ लो! फिर दीदी को समझाना।

नीलिमा झुँझला पड़ी—तुम चुप रहो, अपने को पण्डित समझे हो? बड़ों का आदर करना नहीं जानती, दो पन्ने अंग्रेजी पढ़कर अपने को विदुषी समझने लग गयी। तुम कहो, भैया!

हँसती हुई कविता भाग गयी।

'हिन्दुस्तानी में एक-एक ऐसे ऊटपटाँग शब्द रहते हैं, जो कि जल्दी से समझाये नहीं जा सकते और उनके दूसरे शब्द भी तो नहीं रहते। इङ्गलिश वैसी नहीं है। बात यह है कि यह सब नियम, कानून, आचार-विचार ईश्वर के बनाये हुए नहीं हैं और न वेदों में उनकी चर्चा ही है, यह तो हम मनुष्यों ने बना लिये हैं। कहता था, आजकल शहर में अच्छी उन्नति हो रही है, वहाँ तो कुमारी और विधवा के रहन-सहन में जरा भी फर्क नहीं है।

कुछ ठहरकर अत्यन्त संकोच से नीलिमा ने पूछा—सुनती हूँ, विधवाएँ विवाह कर रही हैं? कैसी गन्दी बात है! मुझे विश्वास नहीं आता।

'गन्दापन कुछ नहीं है। यह तो एक अच्छी बात है। और है सुरुचि।'

उनकी बात में बाधा पड़ी, कमरे में प्रवेश कर हरमोहिनी अवाक् हो रहीं—बैठी बातें किया करो; न काम, न धन्धा—केवल गप्पें लड़ाना और इठलाना। सामान कब बाँधा जायगा? मैं तो सोचती आ रही थी कि अब तक सब बँधा-बँधाया तैयार मिलेगा। जिस ओर न देखूँ, उस ओर कुछ होने का नहीं, ईश्वर मौत नहीं देता कि सब झंझट से छुटकारा पा जाती। वह मैं हूँ जो सब सहती जाती हूँ।

नीलिमा कब चुप रह सकती थी? बोली—कौन कहता है कि तुम सहो!

दस बार कह चुकी, इस मजूरी से मुझे छुट्टी दे दो। कविता से कुछ करते नहीं बनता ? मैं ही सब क्यों करूँ ? दिन-रात गधे-जैसा काम करती रहती हूँ। ऊपर से बातें। मैं आदमी नहीं हूँ ? क्या दो मिनट के लिए भी मुझे फुरसत नहीं है ? सामान ! सामान है !! कौन-सा सामान ? पीतल के दो लोटे, एक फूटी थाली, कुछ चिथड़े। बस, सामान है तो इतना। अपनी लड़की के कपड़े सँभालो आकर, यहाँ तो चिथड़ों से काम है।

'नीलिमा, दिन-पर-दिन तुम मुँहजोर हो रही हो।'

बोलीं तो हरमोहिनी जरूर, किन्तु अत्यन्त धीरे-से और चुपचाप हट गयीं। मुँह से चाहे वह नीलिमा को कुछ भी कहें, परन्तु मन में उससे डरती थीं।

[१०]

कोई तीन बजे से पिया घूमने चली गयी थी ; तबतक लौटी न थी। दिन-भर यमुना काम करती रही। काम क्या उसका कम रहा ? बहुत था—बहुत—बहुत। गाँव जाने के लिए मामा का सामान ठीक करना ; अपने लिए पहाड़ जाने की व्यवस्था करना, इत्यादि-इत्यादि।

दिन-भर के बाद सन्ध्या-बेला में उसे समय मिला। स्नान कर जरा दर्पण के सामने खड़ी हो गयी—बाल सँभालने। विभूति ने कमरे में प्रवेश किया तो पत्नी की रंगीन साड़ी पर दृष्टि गड़-सी गयी। यमुना ने एक रंगीन साड़ी पहन ली थी। रंगीन वस्त्र उसे बहुत पसन्द थे, परन्तु फिर भी वह सादे वस्त्र ही पहनती।

विभूति एकदम से कह उठा—दिन-रात बनाव शृंगार। रंग-विरंग की साड़ियाँ, पाउडर और स्नो। इन चीजों से मेरा जी जलने लगता है।

यमुना लौटकर खड़ी हो गयी—क्या करूँ ? यहाँ जरा सज-धजकर रहना पड़ता है। नहीं तो पिया चिढ़ती है। घर पर तो मैं साधारण भाव से रहती हूँ। तुम्हें पसन्द नहीं, फिर बनाव-शृंगार करूँ किसके लिए ? मेरा तो सब कुछ तुम्हारे लिए है न।—वह सलज्ज हँसी।

'मुझे पसन्द नहीं, इसका मतलब ? सब दोष केवल मेरे माथे मढ़ने की चेष्टा। तुमसे किसने कहा कि मुझे पसन्द नहीं ? अभी-अभी जो तुम्हारे मामा ने तुम्हें लफंगे छोकड़ों के बीच में बुला लाने के लिए कहा। क्या मैंने कहा कुछ ? किन्तु तुम्हारा अपना मत, अपना प्रिन्सिपल भी तो कुछ है न ? उनने कहा मैं

चल दिया। अब जाओ या न जाओ, सो जानो तुम। दिन रात बनाव-शृंगार करने का काम वेश्याओं का है, घर की स्त्रियों का नहीं। तुमसे पूछता हूँ--भले घर की लड़कियों को कहीं यह सब अच्छा लगता है? मैं पसन्द नहीं करता ऐसी बातें, कभी भूलकर भी न कहा करो। तुम्हारी अपनी रुचि है, उसमें मैंने कभी बाधा न दी और न कभी दूँगा। आजकल की छोकड़ियाँ भी कैसी निर्लज्ज हो रही हैं! प्रेम तो उनके पास एक खेल की चीज है। बन ठनकर केवल मर्दों से इटलाना। जैसी जिसकी रुचि, परन्तु मुझे बीच में खींचना व्यर्थ है। अपना-अपना दृष्टिकोण मनुष्य-मात्र का है न!'

निर्वाक् विस्मय से यमुना खड़ी रह गयी। वाद-प्रतिवाद, तर्क? नहीं, नहीं, ऐसा करने की उसने चेष्टा मात्र न की।

'चुपचाप खड़ी ही रहोगी? कुछ जवाब दो।'

'मामा से कह देना, मैं काम कर रही हूँ।'

'ऐसा मैं कह दूँ, और वे सबके सामने मेरा अपमान करें! यही तो अब होना बाकी रह गया है, और तुम भी ऐसा चाहती हो।'

'मैं!'

'हाँ—हाँ, तुम।'

'चलो। ठहरो, जरा कपड़े बदल लूँ।'

'चलोगी, सो मैं जानता था।'

उस परिहास को यमुना ने सुनकर भी न सुना, बोली—मामा का क्रोध किसी से छिपा नहीं है। यदि न गयी, तो इस जरा-सी बात के लिए वह न-जाने क्या अनर्थ कर बैठें।

इस बात को विभूति जानता न था, ऐसा नहीं; किन्तु फिर भी यह कहने से वह न चूका कि—और फिर इधर भी छोकड़ों के सामने जाने का आग्रह है ही, ऐसी स्थिति में मुझे क्यों सबके सामने बुरा बनाना?

'मैं तुम्हें बुरा बनाती हूँ'?

उस व्यथित स्वर को विभूति ने सुनकर भी न सुना, बोला—देर क्यों लगा रही हो, वह चिढ़ेंगे न!

'अभी आयी, कपड़े बदल लूँ।'

'अच्छा, यों कहो, ज़रा और भी बारीक साड़ी की ज़रूरत है। कमी क्या है? मामा ने तो जाने कितनी जार्जेट की साड़ी खरीद दी हैं; उन्हींमें से एक पहन लो, जिससे बदन साफ दीख पड़े।'

आँसू रोकती हुई यमुना चली गयी और कमरे में जाकर भीतर से द्वार बन्द कर लिया। वह सहसा ऐसी गयी कि विभूति उसे रोक भी न पाया।

बाहर से नौकर दौड़ा आया कि साहब उन दोनों को बुला रहे हैं।

'अभी आते हैं'—कहकर उसने नौकर को विदा कर दिया और रुद्ध द्वार पर जाकर पुकारने लगा। विनीत कण्ठ से विभूति गिड़गिड़ाने लगा—जल्दी निकल आओ, यमुना! मामा नाराज हो रहे हैं। मैंने तो ज़रा हँसी की थी, तुम रूठ गयी। मामा आते होंगे, फिर मेरी भी खबर ले डालेंगे। चली आओ, सुनती हो?

मोटी साड़ी पहनकर यमुना निकली।

विभूति चिढ़ा—मैं देखता हूँ, भद्र समाज में तुम मेरा सिर नीचा किये बिना न मानोगी। रो-रोकर आँखें सूज गयी हैं। ऊपर से चमारिन-जैसा कपड़ा पहन-कर आयी हो। अभी ऐसा मैंने क्या कह दिया कि रोने बैठ गयीं? दिन-रात आँसू बहा बहाकर तो एक लड़का तक घर में न आने दिया। अब और क्या चाहती हो?

मुश्किल से यमुना के आँसू रुके थे। किन्तु पति के इस कठोर, हृदयहीन वचन के बाद वह अपने को रोक न सकी। हाथ से मुँह ढाँककर रो पड़ी, यमुना रो पड़ी—रो पड़ी; बिलख-बिलखकर, सिसक-सिसककर वह रोने लगी।

सत्य था—वह बिलकुल सत्य। वह जानती थी, मानती थी—पति का वचन वास्तविक था। जानती थी—वह सब कुछ! वन्ध्यत्व था उसके नारी जीवन का अमोघ अभिशाप। सब कुछ सत्य था, किन्तु सत्य भी ऐसा नग्न, ऐसा व्याधि-युक्त, कुत्सित हो सकता है, केवल जानती न थी इस बात को। ऐसा विचार भी तो कभी मन में उठ नहीं पाता! फिर अनुभव की कौन कहे?

वह तिलमिला उठी। दुःख, खेद, वेदना से वह विकल हो पड़ी, अपरिसीम लज्जा से उसके रोम-रोम काँपने लगे।

उधर विभूति के अन्तर का अत्याचारी पुरुष उस आँसू के सामने आकर खड़ा हो गया और अपराध का स्वभाव जाग पड़ा। एक अनिच्छाकृत अपराध

अनेक वास्तविक अपराधों की सृष्टि में लग पड़ा। विभूति ने उसे जोर से ढकेल दिया। टेबुल से यमुना का सर टकरा अवश्य जाता, यदि वह कुर्सी को पकड़ न लेती।

उसके बाद ?—हाँ, यमुना के आँसू सूख गये थे—कदाचित् अपमान की ज्वाला से।

बोली, वह शान्त-स्वर से बोली—मैं नहीं जाऊँगी।

ठीक उसी पल में विभूति भी सँभल गया। संयत-स्वर से उसने कहा—नहीं जाओगी ? मामा को मैं क्या जवाब दूँगा ? मुझे नाहक चिढ़ा देती हो। क्षमा करो यमुना, इस एक बार मुझे और भी क्षमा कर दो।

परन्तु पति के अन्तिम शब्द यमुना के कान तक शायद ही पहुँचे हों, उसके कानों में वही छोटा-सा पद भरा था—'मामा को क्या जवाब दूँगा ?' वह अपना अपमान सह सकती है ; पति का नहीं। वह चलेगी और सब कुछ भूलकर जरूर चलेगी। और इसके भी बाद ?—इसके बाद वह भूलेगी, निश्चिन्त कर भूलेगी अपनी सत्ता को।

पत्नी के साथ जब विभूति बाहर के कमरे में पहुँचा, तब वहाँ स्त्री-स्वाधीनता पर जोर का तर्क चल रहा था। तर्क हो रहा था जमींदार और निशीथ में। श्रोता थे आलोक, अमूल्य आदि। पिया तबतक बाहर से लौटी न थी।

विभूति ने आलोक से कहा—तुम चुप क्यों बैठे हो ?

'तर्क करने से सुनने में ज्यादा मजा आता है।'

'बड़े बुद्धिमान हो भाई तुम।'

आलोक मुसकराया।

'बुद्धिमान इसलिए कि दोनों काम साथ चल रहे हैं।'

'कैसे दो काम ?'—हतबुद्धि-सा आलोक विभूति का मुँह निहारने लगा।

'आँखें हैं द्वार की ओर किसीकी प्रतीक्षा में अधीर और कान हैं तर्क के प्रति।' अपनी रसिकता में मस्त विभूति देर तक हँसता रहा।

दालान के नीचे टाइगर पिया को लेकर पहुँच गया। साईस दौड़ा-दौड़ा आया, वह लगाम थाम ली। पपीहरा उतरी। अचानक निशीथ का तर्क रुक गया, वह आँखें फाड़-फाड़कर उस अश्वारोही लड़की को देखने लगा। भारतीय

नारी का अश्वारूढ़ चित्र उसके नेत्र में अद्भुत, ऐसा अस्वाभाविक लग रहा था कि वह आँखें फेरना भूल गया।

उस सभ्यता-वर्जित दृष्टि के सामने पिया जिस परिमाण में विरक्त हुई, ठीक उसी परिमाण में उसका मन भी अस्वस्थ होने लगा।

सुकान्त परिचय कराने लगे—बेटी, यह पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट निशीथ घोषाल साहब हैं और यह है मेरी पपीहरा।

उत्तर में निशीथ बोला—हम दोनों परिचित हैं, पूछिए न उनसे।

'तुम इन्हें पहचानती हो पिया? शायद तुमने मुझसे इनके बारे में कहा भी था। किन्तु मुझे कुछ याद नहीं।'—सुकान्त ने कहा।

'एक दिन पाँच-सात मिनट के लिए इनसे मुलाकात हुई थी, काका!'—तात्च्छुल्य से उसने कहा।

'अच्छा-अच्छा, ऐसा!'—जमींदार हँसने लगे।

'आया हूँ—केवल आपसे क्षमा माँगने के लिए पिया देवी।'

पिया को चुप रहते देखकर निशीथ ने अपनी बात दुहरायी—सुन रही हैं पिया देवी, उस दिन मुझसे कुछ रुखाई हो गयी थी। नारी दया की पात्री हैं उनसे मैं कठोरता नहीं करना चाहता। समझ रही हैं न?

'ऐसी बात है? यह दया का स्वाँग भी अच्छा है और उस दिन का।'

'दया का स्वाँग?'—विस्मय से निशीथ ने कहा।

'हाँ, दया का स्वाँग! किन्तु मेरे लिए सब कुछ समान है। यदि मेरी समझ में नहीं आ रही है, तो वह यही बात है कि इसकी क्या जरूरत थी?'

'किसकी?'—हतबुद्धि-सा निशीथ ने पूछा।

'इसी स्वाँग की।'—पिया ने कहा।

पिया को चिढ़ते देखकर जमींदार व्यस्त हुए—कैसा अपराध, कैसी क्षमा! आप सबका लड़कपन अभी गया नहीं। कहीं कुछ नहीं। कोई बात नहीं है। सब लोग आराम से बैठो। अपराध तो मन की चीज है। सोचो तो वह अपराध है और यदि अपराध की दृष्टि से न देखना चाहो, तो वह कुछ भी नहीं है। मैं कहता हूँ पाप के—अपराध के नाम से कुछ है ही नहीं।

निशीथ नहीं, इस बार बोला विभूति—उस दिन सिनेमा में यदि मैं और

निशीथ न होते, तो ये लोग मुश्किल में पड़ जातीं। हठात् विभूति चुप हो गया, पिया के विस्फारित नेत्र की मूर्त घृणा मानो उसे निगलने लग गयी। उसे लगा—इसके बाद न कुछ सुन्दर रहेगा न सुनहरा, रहेगी मात्र घृणा-कलंकित एक दीर्घ कृष्ण-वर्ण यवनिका।

पपीहरा की वह दृष्टि निशीथ को भी विद्ध करने लगी। पिया ने काका की ओर मुँह फेरा।

'कौन-सी अद्भुत बात सिनेमा में हो गयी थी?' सुकान्त ने पूछा।

'उस दिन। उस दिन ऐसा कुछ नहीं हुआ—जिसके लिए रोचक भूमिका रचनी पड़े। दीदी को जरा चक्कर-सा आ गया था, आप दोनों महाशय बिना बुलाये आ गये और पानी-वानी लाने लगे। बस।'

'बिना बुलाये! किन्तु ऐसा अपवाद दूसरों को आप अनायास दे दें, मुझे नहीं दे सकतीं। पत्नी की सहायता के लिए विभूति ने मुझे बुला लिया था। तो आप समझ सकती हैं, मैं निरपराध हूँ या नहीं। अभी तक हमारे देश में पति पत्नी का अभिभावक समझा जाता है, ऐसी स्थिति में उसी पति के बुलाने से यदि मैं चला गया, तो बिना बुलाये का दोष मुझ पर नहीं लग सकता है।'

यह बात निशीथ ने किसी ओर देखे बिना ही कह डाली, मुसकुराकर धीरे-धीरे।

इन बातों का प्रच्छन्न-श्लेष विभूति के सिवा बाकी सबको विद्ध करने लगा।

अवहेलना के साथ पिया ने उत्तर दिया—होगा भी। परन्तु पतित्व का और उस पतित्व के अधिकार का दावा या दोहाई शायद उस दिन करने और देने से ठीक होता, जिस दिन कि पति पत्नी पर न्याय, स्नेह, सम्मान आदि के बर्तावों से अपने पतित्व के अभिमान को अक्षुण्ण रख सकता।—पिया जरा चुप रही और निशीथ की ओर देखकर और कुछ कहने को हुई।

यमुना के आर्त कण्ठ का 'पिया'—चीत्कार सुनकर पपीहरा एकदम चुप हो गयी।

चीत्कार? किन्तु पपीहरा को तो वह चीत्कार ही-सा लगा। करुण आर्त्त, असहाय, मर्म-भेदी चीत्कार-सा। मूर्ति की भाँति सब बैठे रह गये।

यमुना उठी, पिया का हाथ पकड़ा। शिशु की भाँति पिया बहन की बाँह

से लिपटी बाहर चली गयी। उन दोनों के जाने के बाद विभूति ने मुँह खोला—चाहे कुछ भी कोई कहे, किन्तु स्त्रियों को अधिक स्वाधीनता देना अनुचित है।

साथ ही निशीथ ने सर हिला दिया।

सुकान्त ने दोनों को देखा, मुसकराये, पूछा—अनुचित है, ऐसा तुम कह रहे हो विभूति ?

'जी हाँ, अनुचित है।'

'किस तरह की स्वाधीनता ? यानी थियेटर, बायस्कोप में जाना ?'

'कहने का मतलब है—घर के लोगों के साथ जाना चाहिए। सिनेमा में जाना खराब नहीं है।'—विभूति ने कहा।

'चलो, फिर भी भाग्य है कि सिनेमा जाना तुम खराब नहीं समझते। दूसरी बात, आलोक को हम घर का लड़का समझते हैं, विभूति ! तुम क्या कहते हो, निशीथ ? अरे तुम भी तो विभूति के मित्र हो और मित्र के पक्ष में बोलोगे भी ! मैं भी कैसे आदमी से पूछ रहा हूँ। अभी-अभी घण्टे-भर पहले—हम दोनों पर्दा-प्रथा की आलोचना में लगे थे।' वह हँसने लगे—'तुम तो स्त्री-स्वाधीनता के कड़े विरोधी हो।'—इतना कहकर सुकान्त गला फाड़कर हँसे।

'ठीक विरोधी नहीं !'—निशीथ विनीत स्वर से बोला।

'कुछ थोड़ा-सा पक्ष में भी हो ?'—जमींदार के उस व्यंग्य से निशीथ विवर्ण हो गया।

'लड़कियाँ कहाँ चली गयीं, विभूति ?'—जमींदार ने पूछा।

'भीतर गयी होंगी।'

'भीतर बगीचे में होंगी।—आलोक ने कहा।

'आया था क्षमा-प्रार्थी होकर, हो गया उल्टा। अपराध पर अपराध की सृष्टि कर बैठा। पपीहरा देवी कहँ चली गयीं ?'

निशीथ की उस कुण्ठा को सुकान्त ने सुना तो बोले—पिया जरा क्रोधी है; बस, इसके सिवा और कोई अवगुण उसमें नहीं है। उससे अच्छी तरह से मिलने पर तुम जान सकोगे निशीथ, वह कैसी जल-सी स्वच्छ है, स्नेह से उसका मन कैसा सना रहता है ! विधाता ने गुण तो मेरी पिया में कूट-कूटकर भर दिया है। भीतर के बगीचे में वे दोनों मिल जायँगी, चले जाओ।

अभिवादन कर निशीथ उठा।

'बड़ी प्रसन्नता हुई तुमसे मिलकर! कभी-कभी आया करो, हम सबको बहुत आनन्द मिलेगा।'

'धन्यवाद, आने की चेष्टा करूँगा।'—कहकर निशीथ उद्यान के लिए चल पड़ा।

उसे आते देखकर पिया के भ्रू कुञ्चित हुए—देखो दीदी, वह असभ्य, गँवार फिर आ रहा है।

'आने दो। अपने घर वह आया है, हमारा अतिथि है, हमें उचित है उसका स्वागत करना।'

'मेरी बला से।'—बोली पिया तिनककर।

'परन्तु उनसे बुरा बर्ताव मत करना।'

हँसमुख से निशीथ ने कहा—जूही के नीचे बैठी आप देवियाँ ऐसी लग रही हैं, मानो फूल की रानी हों।

'कवि बनने का भी शौक है।'—धीरे से पिया बोली।

धीरे से कहने पर भी पिया की बात निशीथ के कानों तक पहुँच गयी। वह शान्त स्वर से बोला—देखिए, जिस तरह हमारा परिचय आरंभ हुआ है, उसमें मुझे हृदयहीन, गँवार आदि सोच लेना आपके लिए एक सहज बात है, स्वाभाविक है। किन्तु क्षमा-प्रार्थी को विमुख करना एक अमार्जनीय अपराध कहा जाता है—विशेषकर स्त्री के लिए। है न बात ठीक, पिया देवी?

'जरूर।'—पिया मुसकराने लगी।

'तो क्षमा कर दिया है न आपने?'

'क्षमा कर दूँ? किन्तु मेरे पास तो सन्धि-ही-सन्धि है, फिर क्षमा की बात कैसी?'

'मुझे बड़ी खुशी है। ऐसी जल्दी क्षमा मिल जाने की आशा नहीं थी।'

'जल्दी कर दी है मैंने? आप खुश क्यों हो रहे हैं, निशीथ बाबू? इस बार देर ही सही।'

'नहीं-नहीं, देवी को अब मैं अप्रसन्नता का मौका न दूँगा। अच्छा तो चलूँ न?

'इतनी जल्दी।'—यमुना बोली।

'काम बहुत है।'

'अरे- दस-पाँच मिनट बैठ जाइये।'—बातें यमुना कर रही थी।

'फिर आ जाऊँगा।'

'कब आवेंगे, पहले कहिये तब कहीं छुट्टी मिलेगी।'

पिया चुप रही, वरन् उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

'आप लोग पहाड़ पर जा रही हैं, आऊँगा किसके पास?'

'दस-पाँच दिन हम यहाँ हैं।'

'आऊँगा। अच्छा, नमस्कार।'—निशीथ चल दिया।

'उसे आने के लिए क्यों कहा दीदी?'

'भद्रता के नाते। भले आदमी हैं। आयें तो हानि क्या है! डरती क्यों है! वह शायद ही आवें।'

स्फुरित ओष्ठाधर से पपीहरा ने उत्तर दिया—डर? डरती तो मैं दुनिया से नहीं हूँ। फिर एक मनुष्य से डरना कैसा? और घोपाल-जैसे तुच्छ मनुष्य से डरना! जो मन की ओर से मुझसे भी छोटा हो, उससे मैं डरूँ?

'छोटा है कि बड़ा, सो तो तू जान। किन्तु मैं किसी को भी अपने से छोटा समझ नहीं सकती।'

'छोटा समझती नहीं दीदी!'

'नहीं बहन! छोटा समझूँ कैसे? प्रत्येक मनुष्य के भीतर उसी एक परमात्मा का निवास है न? मैं सब मनुष्य को नमस्कार करती हूँ।'

'सबको।'

'हाँ, सबको?'

'मुझे भी?'

'तुझे भी पिया, परमात्मा को नमस्कार करने के लिए छोटा-बड़ा, सत्-असत् नहीं देखा जाता है और न बेला-कुबेला देखी जाती है। मैं बार-बार नमस्कार करती हूँ!'—यमुना ने हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

पिया खिलखिलाकर हँस पड़ी।

[११]

जमींदार के घर पहुँचकर नीलिमा और कविता विमूढ़-सी रह गयीं। ऐसा

सुन्दर प्रासाद, मूल्यवान, मनोरम गृह-शय्या व्यवहार करना तो दूर की बात रही, आँखों से उन्होंने कभी देखा न था।

जमींदार का प्रासाद बाहर से उन्होंने एक बार मात्र देखा था, जब कि वे मौसी के घर निमन्त्रण में गयी थीं। सो भी दूर से, मिनट-भर के लिए। माँ ने कहा था—वह देखो, जमींदार का मकान है। बाहरी अंश को कचहरी कहा जाता था, कचहरी द्वितल नहीं था। भीतरी अंश था द्वितल। ऊपर के तीन कमरे नीलिमा आदि को मिले और तीन गद्देदार पलँग, आलमारियाँ, कुर्सी-मेज, ड्रेसिंग-टेबुल आदि बहुत कुछ अपने व्यवहार की वस्तुओं को नीलिमा घुमा-फिराकर, यहाँ वहाँ से सहस्र बार देख रही थी, किन्तु फिर भी वे चीजें अनदेखी-सी रह जातीं। देख-देखकर उसे तृप्ति नहीं मिल रही थी।

भण्डार, रसोई आदि की व्यवस्था, नियम आदि भली-भाँति समझाने के बाद हरमोहिनी ने परम परितोष से चाभी का गुच्छा सँभाला और दासी-चाकर से बातें करने लगीं।

शहर से एक भृत्य लछिमन नाम का जमींदार के साथ आया था, दूसरे सब उनकी भतीजी परीहरा के साथ आवेंगे। सुकान्त टेबुल पर भोजन किया करते थे

हरमोहिनी ने कविता को अपने निकट बुलाकर कहा—लछिमन बेचारा बूढ़ा है, शहर से यही तो एक आया है, किस-किस तरफ वह देखे? सब नौकर नये हैं। तुम बेटी, लछिमन से यहाँ का काम सब समझ बूझ लो।

कविता चुपचाप खड़ी रही।

माँ कहने लगी—समझीं? जमींदार के भोजन के वक्त तुम रहा करो, कौन सी चीज की जरूरत पड़ जावे, देखा करो। कल से यह सब हमारे ऊपर निर्भर है। जरा मन लगाकर सीख लो।

लछिमन वहीं खड़ा सब सुन रहा था। प्रसन्न हुआ। कविता बोली—दीदी को बुलाये लाती हूँ, उनसे सब बन जायगा। मुझसे यह न होगा माँ।

'क्यों न बनेगा?'

कविता धीरे-से बोली—न बनेगा, दीदी सँभाल लेगी।

'वह तो उजड्ड है, जी में आया; काम किया, न आया, पड़ा रहने दिया। नीलिमा का कौन भरोसा?'

'वह तो सब काम करती हैं माँ।'

'चुप भी रह। मुझसे ज्यादा तू उसे क्या पहचाने ? करती है पर जब इच्छा हुई। मैं और लछिमन कौन तरफ सँभालूँ ? उधर देवी-पूजा, इधर इतनी बड़ी गृहस्थी। नायब-गुमाश्ते, नौकर-चाकर सब चौके में खाते हैं। तुम बड़ी हो चली बेटी, शादी होगी। अभी से जरा घर-गृहस्थी के धन्धे सीख लो।'

लछिमन ने कहा—साहब की भतीजी हैं न माँजी, वह भी ठीक इन बाई की तरह हैं। घर-गृहस्थी के काम कुछ नहीं समझतीं घोड़े का बड़ा शौक है, पढ़ने में भी वैसी तेज; परन्तु लड़की है तो पपीहरा बाई हजार में एक। फिकर न करो माँजी, श्वसुर के घर जाने से सब सीख जायँगी।

कविता चुपचाप चली गयी और नीलिमा को भेज दिया। लछिमन ने पूछा—माँजी, साहब आपके बड़े भाई हैं कि छोटे ?—उसने सुना था, साहब की बहन देश में रहती हैं। तो लछिमन निश्चय पर पहुँच गया—माँजी साहब की बहन हैं।

नीलिमा पहुँच गयी। बात उसने सुनी और जल्दी से बोली—लछिमन भैया, तुम्हारे बाल बच्चे कहाँ पर हैं ? देश में ?

बात दूसरी ओर लौटी देखकर गृहिणी कन्या पर प्रसन्न हो गयीं। मन-की मन सराहने लगीं—हाँ, नीलिमा में अकल जरूर है, बुद्धिमती है, बस, जरा जिद्दी है।

जमीदार के भोजन के बाद नीलिमा ने भर-पेट, तृप्ति-पूवक भोजन किया—चने की दाल, नाना प्रकार की तरकारियाँ, साग-भाजी, दही, खीर, मलाई, फल, मिठाई। पेट में जगह नहीं, किन्तु उस स्वाद-युक्त भोजन से वह हाथ भी न खींच सकी। कविता को तो फिर भी कभी शादी-ब्याह में अच्छा भोजन मिल जाता था, किन्तु उस अभागिन विधवा की कहीं भी पूछ नहीं थी। दुनिया की दृष्टि में वह मर चुकी थी, किन्तु फिर भी यदि उसके मन का प्राण, रुचि और स्वाद के साथ जीवित रहा हो, तो इसे एक रहस्य के सिवा क्या कहा जा सकता है ?

चुपके से नीलिमा ने माँ से पूछा—माँ, यहाँ रोज ऐसा भोजन बना करेगा ?

'रोज ?'

'रोज बनेगा, माँ रोज ?'

'हाँ, हर रोज। यह राजा का घर है बेटी, नित राज-भोग बना करेगा। कमी किस बात की है ?'

'भोजन भी कैसा अच्छा बना है !'

'क्यों न बने, एक-से-एक अच्छे रसोइयें हैं। जरा सुकान्त का आदर-यत्न भी करना है। बहुत अच्छा है बेचारा। मैं बूढ़ी हो गयी, कवि अभी लड़की है, तू यदि जरा मुझे मदद दे नीली, तो बात बन जाय।'

नीलिमा झल्ला पड़ी—बच्ची है, बच्ची है, कहकर तो तुमने कविता का दिमाग बिगाड़ दिया है। बच्ची कैसी? सत्रह-अठारह वर्ष की हो गयी और बच्ची बनी है? यही मुझे नहीं सोहाता कि मैं बूढ़ी बनी दिन-रात काम किया करूँ और वह बच्ची बनी झूला झूला करे। मैं खुद चाहती हूँ कि तुम्हारी मदद करूँ। ऐसी बातों से जी जल जाता है। कवि मुझसे दो वर्ष ही तो छोटी है।

'सत्रह-अठारह वर्ष की अभी वह कहाँ हुई नीली?'

'नहीं, दस वर्ष की है।'

'सोलह पूरे हुए अभी महीना-भर तो हुआ है?'

'होंगे, क्या सोलह वर्ष कम हैं?'

हठात् हरमोहिनी धीमी पड़ गयीं। कदाचित् नौकरों का उन्हें खयाल रहा हो, कि उन सबके सामने कहीं ओछापन प्रकाशित न हो जावे।

आवाज में मिठास भरकर बोलीं—बूढ़ी हो गयी हूँ, कुछ-का-कुछ कह देती हूँ, तू भी चिढ़ जाती है। तुम न सँभालोगी तो कौन सँभालेगा नीली? जमींदार जब भोजन पर बैठा तब मैंने जरा झाँककर देखा। भला आदमी है, मुझे देखा तो माँ कहकर पुकारने लगा।

'बोलीं तुम कि नहीं?'

'बोली—चली गयी भीतर।

'क्या बोले?'

'पूछने लगा, आपको तकलीफ तो नहीं है? बड़ा अच्छा है। खीर हटाती क्यों है?'

'पेट में जगह नहीं है।'

'खा लो, खा लो। धीरे धीरे, बैठकर खा लो। अच्छी चीजें तेरी थाली पर कभी परोस न सकी थी। मेरा भाग्य। खा लो, दोपहर का जलपान अभी बनाने को पड़ा है।'

माँ के कण्ठ में स्नेह का आभास पाकर नीलिमा का मन प्रफुल्ल हो गया—जलपान मैं बना लूँगी, तुम सो रहो।

दोपहर में जलपान के लिए बैठा था सुकान्त और द्वार के पास जरा हटकर, जमीन में बैठी थीं हरमोहिनी।

'सब चीजें गरम हैं, आपने अभी बनायी होंगी?' सुकान्त ने पूछा।

'हाँ बेटा। ठण्डे समोसे, कचौरी कहीं अच्छी लगी हैं? अभी बन रही हैं।'

'ऐसा परिश्रम क्यों करती हैं? कहीं बीमार पड़ गयीं माँ, तो यहाँ सँभालने-वाला कोई न रहेगा।'

'विधवा से रोग-पीड़ा दूर रहती है बेटा, चिन्ता न करो, मुझे कुछ होने का नहीं। कचौरी अच्छी बनी है? दो-चार और ले लो। नीली, कचौरी लेती आ। गरम-गरम लाना।'

पैर की आहट से सुकान्त की दृष्टि द्वार के प्रति अपने-आप उठ गयी। नेत्र में पलक न पड़ पाये। उसने देखी वही वस्तु, जिसकी कल्पना का उत्कर्ष मात्र समझे हुए था। नहीं-नहीं, रूप की शब्द-साधना ही नहीं; वरन् रूप; जीवित परी उसके सामने उपस्थित थी।

अवगुण्ठन की आड़ से जितना-सा जो कुछ भी दीख पड़ा, सुकान्त को लगा—वह अरूप है, अपरूप है।

और नीलिमा? पुरुष की मुग्ध दृष्टि के नीचे वह एकदम काँप उठी। कचौरी की रकेबी हाथ से छूट गयी। लज्जित, कम्पित तरुणी उसी भाँति खड़ी रह गयी।

'गिरा दिया। सब खराब कर दिया। सब काम में उतावली। जाओ और ले आओ।'—हरमोहिनी ने कहा।

'आपके पैर में लग गया? अरे, खून बह रहा है। देखें-देखें!'—सुकान्त ने कहा।

एक प्रकार दौड़ती नीलिमा भागी। न पीछे लौटकर देखा, न कुछ।

सुकान्त बोला—उनके पैर में चोट लगी है। खून बह रहा है। जरा-सा टिनचर लगा देने से अच्छा होता।

'हिन्दू के घर की विधवा को जरा-सी चोट की परवाह नहीं रहती बेटा, अपने-आप अच्छा हो जायगा।'

'बेचारी विधवा है, ऐसी कम अवस्था में !'—सहानुभूति से सुकान्त का गला भर आया।

संकुचित नीलिमा आयी, कचौरी टेबुल पर रख दी और लौटी।

'ज्यादा चोट आयी है ? 'जमबुक' लगा लें, मेरे पास है '

जाती-जाती नीलिमा लौटी, पल-भर के लिए उसने आँख उठायी और चल पड़ी। रसोई में जाकर कचौरी की कढ़ाई उतार ली। उसका श्वास रुक सा रहा था। जमींदार की वह सहानुभूति, मुग्ध दृष्टि उसके चहुँओर के वायु में घूम-फिर रही थी।

सहानुभूति पाना, अपने लिए किसीको विचार करते देखना उसके लिए ऐसा नूतन, असम्भव था कि आज के इस पाने को वह अपनी छोटी छाती में अच्छी तरह उपलब्ध भी नहीं कर सकती थी। ऊपर अपने कमरे में चली गयी। भीतर से द्वार बन्द कर वह बड़े-से दर्पण के सामने खड़ी हो गयी। देखने लगी—नीलिमा विस्फारित दृष्टि प्रसारित कर देखने लगी अपने ही रूप को। आश्चर्य-चकित दृष्टि से देखने लगी उस अनुपम मुख को। ऐसी सुन्दर, ऐसी मनोरम है वह ? वह तो अपने को सदा देखा करती थी, किन्तु ऐसी सुन्दर तो वह कभी न थी, फिर यह रूप पल-भर के भीतर वह कहाँ से चुरा लाया ? किसके घर डाका डाला ? अरे, कहाँ से लायी, कहाँ से लायी ?

नीलिमा का हृदय तब भी वैसा ही धड़क रहा था और दृष्टि में विस्मय वैसा ही निविड़ होता चला जा रहा था, और वह वैसी ही खड़ी-खड़ी विचार रही थी ; रूप ! रूप !! ऐसा रूप !!!

उस आईने के भीतर थी एक अनुपम सुन्दरी और बाहर था एक मुग्ध-विस्मय ; प्रश्नों की एक विचित्र उलझन।

[१२]

उस दिन आलोक की मोटर-साइकिल के साथ-साथ पपीहरा घोड़े को दौड़ा रही थी। इसी धुन में वह निकल गयी दूर—बहुत दूर, शहर के बाहर। मोटर-साइकिल का कहीं पता न था। पपीहरा घोड़े पर बैठी चली जाने लगी।

क्रमशः दिन का प्रकाश धुँधला हो चला। अचानक उसे लगा, अरे घर लौटना है, कहाँ निकल आयी? फिर लगा, टार्च तो साथ लायी नहीं, अब? कोई हानि नहीं। डर किसका है? पिया मुसकरायी—हाँ-हाँ, डर ही किसका है?

फेरा घोड़ा और तेजी के साथ घर की ओर चली। धीरे धीरे अन्धकार पृथ्वी की गोदी भरने लगा। उत्साह से पिया घोड़ा उछालती बढ़ती चली। अन्त तक चहुँओर अन्धकार ही-अन्धकार रह गया। न कहीं पथ का चिह्न, न कहीं निर्देश। झाड़ी झुरमुट, कहीं बड़े-बड़े वृक्ष, नाले गड्ढे और बस अन्धकार!

एक जोर का शब्द हुआ, साथ में पिया को लेकर घोड़ा गड्ढे में गिर पड़ा।

बचते-बचते भी पिया कुछ दब-सी गयी। दूसरे पल में मोटर का लाइट उसपर आ गिरा। कार थी निशीथ घोषाल की। वह दौरे से लौट रहा था। कार रुकी। निशीथ उतरा। 'शोफ़र' और निशीथ ने मिलकर मुश्किल से पिया को निकाला, घोड़े को बाहर किया। पपीहरा बाहर निकली। गड्ढा अधिक गहरा नहीं था। किसी तरह वह सीधी होकर खड़ी हो गयी। कई स्थान उसके छिल गये थे। घुटने में चोट लगी थी, शरीर उसका दर्द से चूर-चूर हो रहा था, किन्तु उस मुख पर वेदना-जनित क्लेश के चिह्न उस समय बिलकुल न थे—वरन् लज्जा, अपमान, क्रोध इन तीनों के एकत्र समावेश से मुख का भाव विचित्र-सा, अद्भुत सा हो रहा था।

अपने ऊपर नहीं, मन-ही-मन वह निशीथ पर झल्ला रही थी, इस समय इसे यहाँ आने की जरूरत ही कौन-सी पड़ गयी?

आगे के दिन वर्षा हुई थी, उस दिन भी थोड़ी बूँदे पड़ गयी थीं। खेत-खलिहानों में कीचड़ हो रहा था, गड्ढों में पानी जमा हुआ था। कीचड़ से लथपथ पिया की उस अपरूप मूर्ति की ओर देखकर निशीथ बोला—अरे आप!

पिया चुप रही।

निशीथ कहने लगा—वही तो सोच रहा था, ऐसा दुःसाहस किसका हो सकता है। कहीं लगा तो नहीं? लगा है, घुटने छिल गये हैं। गाड़ी पर बैठ जाइये!

'अनेक धन्यवाद, मैं स्वयं चली जाऊँगी।'—उसके अनजान में उसका

स्वर कठोर, अभद्रोचित हो गया और उस स्वर की कदर्यता निशीथ को विद्ध करने लगी।

'आपका घोड़ा जख्मी हो गया है। शायद ही उसपर आप जा सकें।

पिया ने कुछ उत्तर न दिया, अश्व की परीक्षा की, बोली—ठीक है।

'ठीक है, जरा अच्छी तरह देखिये ?'

'ठीक है, मैं चली जाऊँगी।'

'कीचड़ से सन गयी हैं, इस तरह से घोड़े पर चली जायँगी ? शहर में जाना है।'

'कोई हानि नहीं।'

उस संक्षिप्त उत्तर के बाद भी निशीथ ने कहा—इस तरह शहर में जाना शायद ठीक न होगा। फिर भी विनय करूँगा, आप कार पर चलें।

निशीथ की बात पिया को व्यंग्य-जैसी लगी और तभी-तभी वह उत्तप्त-सी हो गयी—चाहे मैं किसी तरह भी जाऊँ उसका विचार मैं स्वयं कर सकती हूँ।

अपमान से निशीथ का मुँह लाल पड़ गया, उसके बाद वह संयत स्वर से बोला—जानता हूँ, इसे आप अनधिकार चर्चा कहेंगी, और है भी शायद ठीक, किन्तु फिर कहना पड़ रहा है।

उसके मुँह की बात मुँह में रह गयी, पिया उछलकर घोड़े पर बैठ गयी—नमस्कार निशीथ बाबू, धन्यवाद भी।

जाने कबतक निशीथ स्तब्ध विस्मय से खड़ा रह गया।

× × ×

अपने मित्रों को विभूति ने चाय का निमन्त्रण दिया था; आलोक, रमेश आदि को भी निमन्त्रण था और निशीथ तो उसका मित्र ही ठहरा, फिर वह छूटता कैसे ?

निमन्त्रितों से कमरा भर गया। यमुना, पिया उपस्थित थीं। यमुना संकुचित बैठी थी, पिया गम्भीर। उस गम्भीरता को देखकर आलोक बोला—आपको ऐसा कभी नहीं पाया। आज बात क्या है, पपीहरा देवी ?

'कुछ भी नहीं।'—मन-ही-मन पिया झुँझला उठी।

'घुटने का दर्द कैसा है ?'—निशीथ ने पूछा।

वह देर से बैठा हुआ था, परन्तु अबतक पपीहरा से बोला न था। और पपीहरा ने उसे देखकर भी न देखना चाहा था।

प्रश्न सुनकर यमुना के सिवा बाकी के सब लोग आश्चर्य से पिया को देखने लगे, पूछने लगे क्यों, पैर में क्या हो गया?

उस दिन की बातें पिया ने यमुना से कह दी थीं। और किसीसे नहीं।

सहसा पिया को अनुभव हुआ, सबके सामने उसे लज्जित करने का ही निशीथ का प्रयास है और कुछ नहीं मेरे चोट लगने से यदि इन्हें सच्ची सहानुभूति होती, तो क्या सप्ताह के भीतर एक दिन भी यह खबर लेने न आते? विचार उठा और पिया स्थिर निश्चय पर चली गयी, साथ ही उसका खून उबलने-सा लगा।

उत्तप्त स्वर से बोली पिया—जरा-सी चोट मिटने में घण्टे-भर की देर नहीं लगती है, इस बात को न समझ सकना ही है विस्मय की बात निशीथ बाबू, परन्तु घोड़े पर से गिरना नहीं।

विराट् विस्मय निशीथ की आँखों के सामने आ गया। उसने सिर नीचा कर लिया। उत्तर? नहीं, उत्तर देने, वाद-प्रतिवाद करते उसे अपमान-सा लगने लगा। देर के बाद उसने मुँह खोला, तो उस स्वर से विरक्ति ही केवल सामने आयी—सचमुच आपसे बात करना कठिन है। कब कौन सी बात पर चिढ़ उठें—यही है एक भारी समस्या। इस समस्या के युग में यदि प्रत्येक मनुष्य से नाप-तौलकर बातें करना पड़े, मनुष्य मात्र एक समस्या बन जावे, तो पृथ्वी का अन्त अनिवार्य है। यों ही तो समस्या में पिसकर जीवन दुर्भार हो रहा है। निशीथ मुसकराया, फिर कहने लगा—ईश्वर को अनेक धन्यवाद कि मर्दों का मन उसने उदार बना दिया है, वरना क्या होता सो कौन जाने?

'मैं भी आपकी ओर से धन्यवाद दिये देती हूँ निशीथ बाबू, मर्दों को ऐसा उदार न बनाता तो मर्द स्त्री-जाति को गाली देते ही कैसे? गाली देना और खुले तौर से स्त्रियों को अनुदार, संकीर्ण कह देना उस उदारता का ही एक अंग होगा।'—क्रोध से पिया लाल पड़ गयी।

यमुना ने कहा—रात से पिया के सर में दर्द है, मैं समझती हूँ, उसे कुछ विश्राम देना ठीक होगा। हम बातें करें, वह सुने।'

'मुझे क्या मालूम, आप आराम करें पिया देवी। अच्छा, नमस्कार।'

निशीथ को उठते देखकर यमुना ने रोका - बैठिये-बैठिये, जल्दी क्या है?

'आपका अनुरोध टाल नहीं सकता, दो मिनट बैठ जाता हूँ, किन्तु फिर न रोकिये। सन्ध्या निकली जा रही है।'

'तो जाने दीजिये सन्ध्या को।'

'नहीं, यमुना देवी, सन्ध्या-वन्दन करना है।'

'किसको?'

'मुझे।'

पिया सब कुछ भूल गये, कौतुक-स्वर से पूछने लगी—आप पूजा-पाठ करते हैं? उस पर विश्वास करते हैं?

पिया ही नहीं, कमरे में अनेक नेत्र व्यंग्य परिहास मे मचलने लगे।

हास्य-मुख से निशीथ ने एक बार सबको देखा, फिर शान्त स्वर से कहने लगा—यदि विश्वास न करता, तो उस काम को करता क्यों? कैसे और किस लिए उस काम को करता पिया देवी? किसी दिन ऐसे काम पड़ जाते हैं कि दिन-भर स्नान-पूजा का समय नहीं मिलता। रात में कहीं घर लौटता हूँ और तब स्नान-सन्ध्या के बाद मुँह में पानी पड़ता है। इसमें मुझे विरक्ति नहीं, सन्तोष मिल जाता है।

ताली बजा-बजाकर पिया हँसने लगी। हँसी रुकी तो बोली—सब स्वाँग है। पत्थर को जाने लोग कैसे पूजते हैं। सब दिखावा है और है कुसंस्कार।

इस बात पर कितने ही मुँह फेरकर हँसने लगे।

विभूति बोला—इन बातों को मैं नहीं जानता था। चाहे तुम कुछ भी कहो निशीथ, किन्तु माने बिना गति नहीं, कि यह सब कुसंस्कार है, ढोंग के सिवा कुछ नहीं है। जिसे तुम पूजा करना कहते हो वह एक खासा स्वाँग है।

'होगा।'— निशीथ मुसकराने लगा। विश्वास-निष्ठा से उसके नेत्र दीप्त हो गये, क्षण-भर के लिए वह चुप रहा, बिलकुल चुप, इस तरह मानो परमात्म की वन्दना में समाधिस्थ हो रहा हो।

हठात् उसने पिया की ओर अचल दृष्टि से देखा, कह उठा—'आप हँसती हैं? परन्तु मैं कहता हूँ, आप भी पूजा करती हैं।'

'मैं, मैं?'

'आप स्वयं पिया देवी, वरन यों कहना ठीक होगा कि प्रत्येक व्यक्ति मूर्ति-उपासक है। बिना इसके आत्मा को सन्तोष भी तो नहीं मिल सकता है। उसी परमात्मा से हमारी आत्मा मिली हुई है न? दिन-रात जो एक नीरव आकर्षण आत्मा में हुआ करता है, उसे वह अस्वीकार कैसे करे?'

'ठहरिये ठहरिये। प्रत्येक व्यक्ति मूर्ति-उपासक है, ऐसा आप कह रहे हैं न?'

'कह तो रहा हूँ।'

'मूर्ति-उपासक व्यक्ति की बात दूर रहे इस सभ्य युग में मूर्ति उपासक जाति ही की संख्या आप नहीं गिना सकेंगे निशीथ बाबू।'

'सभ्य और असभ्य जाति-मात्र मूर्ति उपासक हैं।'—उसी अटल विश्वास और जोर के साथ निशीथ कहने लगा—'मुँह से चाहे कोई कुछ भी कहे, किन्तु कार्यतः वह मूर्ति-उपासक के सिवा कुछ नहीं है। कोई जाति सूर्य की उपासना करती है, कोई अग्नि की, क्रूस की कोई, कोई पुस्तक की, कोई काबा की, याने चहुँओर है मूर्ति की उपासना। बात वही है। वस्तु-मात्र की एक आकृति तो है ही। कोई काली, शिव, दुर्गा, कोई ब्रह्मा की। और आप पिया देवी, घोड़ा और चाबुक की पूजा करती हैं।'

निशीथ हँसता हँसता उठा—नमस्कार, सन्ध्या निकली जा रही है।

'जब हारने की नौबत आयी तो भागने की सूझी।'—बोला विभूति।

पल-भर के लिए निशीथ रुका—वैसे ही स्मित हास्य से कहने लगा—हारने की?

'हारने की, तर्क में तुम अवश्य हार जाते निशीथ।'—विभूति ने कहा।

'तर्क? किन्तु जो विशाल है, अनन्त है, उस महाब्रह्म को हम अपनी सीमित तर्क-शक्ति से नाप ही कैसे सकते हैं, विभूति? उस ब्रह्म को तर्क की परिधि में लाने की चेष्टा तो वातुलता मात्र है। नमस्कार, नमस्कार।'

निशीथ के चले जाने के बाद कमरे में परिहास, विद्रूप जोर के साथ चलने लगा।

कोई बोला—रहता तो है अप-टू-डेट-सा, सूट-बूट, टाई-कॉलर सब पहनता है। उधर औरतों-जैसा माला भी टाला करता है।

दूसरे महाशय ने कहा—मुरगी के अंडे उड़ाते हैं और वक्त पर आप पुजारी भी बन जाते हैं। जाने कैसा असभ्य व्यक्ति है।

घृणा से पिया का मुँह संकुचित हुआ—छिः! ऐसे व्यक्ति भी मर्द कहलाने को मरते हैं।

'कैसी गन्दी रुचि है!' किसीने कहा।

विभूति कहने लगा—मैं नहीं जानता था कि निशीथ ऐसा असभ्य और कुसंस्कार ग्रस्त जीव है। गँवार कहीं का।

'नहीं जानते थे? आप ही के अन्तरंग मित्र तो हैं न, मिस्टर घोषाल!'—पिया ने टोक दिया।

'मुँह पर मित्र कह दिया तो क्या हुआ, वह मित्र थोड़े ही बन जाता है।'

'झूठ-मूठ कह दिया मित्र? छिः, ऐसी प्रतारणा!'—मानो पिया अपने आप कह उठी।

'बात यह है पिया, कि संसार में हमें कभी झूठ बोलने की भी जरूरत पड़ जाती है'

पिया ने कुछ उत्तर न दिया। घृणा, विराग से उसका मन जाने कैसा कर उठा। वहाँ बैठने में उसे एक अस्वच्छन्दता-सी लगने लगी। पपीहरा जल्दी से उठी।

पिया को जाते देखकर आलोक ने पूछा—काकाजी गाँव पर चले गये? आप लोग पहाड़ पर कब जा रही हैं?

'दो-चार दिन में।'—जाते-जाते पिया ने कहा और जल्दी-जल्दी वहाँ से निकल गयी।

[१३]

धीरे-धीरे कविता और नीलिमा इस नूतन जीवन में कुछ अभ्यस्त-सी हो गयीं।

लिखना, पढ़ना, घूमना और जमींदार के गृह-पालित पशु-पक्षियों को लेकर कविता आराम से, आनन्द से रहती और नीलिमा गृहस्थी की देखभाल, सुकान्त के भोजन आदि की व्यवस्था कर सन्तोष, तृप्ति से दिन बिताती। उसके जीवन में एक नूतन और आकर्षक अध्याय आरम्भ हो गया था। पुरुष की सेवा कर

नारी को ऐसी शान्ति, तृप्ति मिल जाती है, उसका नारीत्व इस तरह चरितार्थ हो जाता है, इस बात का तो वह विचार भी कभी न कर सकी थी। विमूढ़-विस्मय और एक अदम्य आग्रह से वह आगे बढ़ती चली जाती, कुछ सोच-विचार न कर पाती थी।

जमींदार के लिए नीलिमा नित्य नये नये भोजन बनाती, जमींदार के लिए भृत्य बिस्तर लगा जाता, वह सब नीलिमा को पसन्द नहीं आता। वह फिर से चादर उठाती, बिछाती, तकियों के झालर को जरा सीधा कर देती। उनके लिए भोजन बनाकर, पान लगाकर, वस्त्र को उठाकर उसके अन्तर का नारीत्व—गृहिणीत्व खुशी, आनन्द से मतवाला-सा हो उठता। साड़ी के आँचल से वह टेबिल, अलमारियों को पोंछती फिरती, गुलदस्तों के पुष्प में पानी छिड़कती। सुराही के जल में गुलाब-जल मिलाती और दिन में दस बार घूम फिरकर जमींदार के कमरे की देख-भाल करती।

हरमोहिनी अधिकांश समय नीचे रहती थीं। भंडार, पूजा आदि से उन्हें अवसर कम मिलता था। रात को सोते वक्त ऊपर आतीं और चुपचाप पड़ रहती थीं।

सोते थे सब ऊपर। जमींदार भी। नौकर-चाकर नीचे रहते, कोई बगीचे के मकान में भी रहता।

सूर्य की शेष किरण कमरे के कुछ अंश में लोट रही थी, मुरझायी-सी क्लान्त-सी। नौकर बिस्तर लगाकर नीचे उतर गये थे। ऊपर थी केवल नीलिमा। बिछी हुई साफ-सुथरी चादर को उठाकर फिर से पलँग पर बिछा रही थी। उसकी दृष्टि में चादर कुछ सिकुड़-सी गयी थी। और उस सिकुड़ी चादर पर जमींदार की निद्रा में व्याघात की भी सम्भावना थी।

नीचे का कोलाहल ऊपर आ रहा था, सिल लोढ़े का शब्द, खल-बट्टे की धमक और दासी-चाकर के उच्च चीत्कार सब मिलाकर एक अपूर्व कोलाहल था।

चादर बिछाती हुई खुली खिड़की की ओर नीलिमा ने देखा, दूर में हरे-हरे खेत गेहूँ, जव के बालों से लदे खड़े थे। सामने के आम के पेड़ पर बैठी हरी टुइयाँ पुकार रही थीं। पृथ्वी मानो हरी हो रही थी। सामने टूकी कान से

गरम-गरम मुरमुरे की महक आ रही थी, खेत की पगडंडी पर कोई रसिक कृषक गाता हुआ चला आ रहा था—

'बेदरदा तू आज हमरी ओर
सँवलिया तू आज हमरी ओर'

नीलिमा की नसें एकदम रोमाञ्चित हो उठीं। वह ध्यान लगाकर उस गीत को सुनने लगी—

'जियरा घबरावत मोर रे।
घड़ी-पल-छिन मोहे कल ना पड़त हैं
जियरा न मानत मोर रे।'

गीत में वह ऐसी तन्मय हो रही थी कि जमींदार का आना भी उससे गोपन रह गया। अचानक उसने देखा तो दृष्टि पड़ गयी एकदम जमींदार के मुँह पर।

अपनी गुप्त सेवा को इस तरह प्रकट होते देखकर वह लज्जावती लता-सी अपने-आप में छिप जाना चाहने लगी।

उधर जमींदार ने आयी हुई हँसी को रोक लिया। कुछ देर तक उस लज्जा के रूप को देखता रहा। उसके नेत्र पुलक-विस्मय से झँपने-से लगे। कदाचित् उस दृष्टि में नारी का लाज-रक्तिम सौन्दर्य नूतन हो, अनास्वादित हो।

देर के बाद सुकान्त का रुँधा हुआ कण्ठ खुला—तुम क्यों तकलीफ उठा रही हो? नौकर कहाँ गये?

नीलिमा को वाक्‌रोध-सा होगया। रही वह चुप—एकदम चुप। अपने अनजान में सुकान्त उसके निकट चले गये, बिलकुल पास। उनकी गरम-गरम श्वास नीलिमा की कुञ्चित देह में लगने लगी।

'कल बुखार चढ़ा था, आज कैसी हो नीला?'

आदर-स्नेह से सने उस प्रश्न ने अचानक नीलिमा के नेत्र में जल भर दिया। पहले न-जाने कितनी बार वह बीमार पड़ी थी और अधिक बीमार। कभी मरने से बची। डाक्टरी दवा? नहीं, कुछ नहीं। उस विधवा के जीवन के लिए उतना समय और अर्थ दुनिया को था ही कहाँ, जो डाक्टर-वैद्य बुलाये जाते या दवा, पथ्य दिये जाते? और कल? कल उस सामान्य ज्वर के लिए डाक्टर आया, दवा आयी। स्वयं जमींदार द्वार पर खड़े दस बार पूछ-पाँछकर

गये। उस दिन में और आज में अन्तर कितना है। कितना ? कितना ? न थोड़ा है, न कम। पृथ्वी और आकाश में जितना अन्तर है, बस, उतना ही तो है। उस दिन थी वह पृथ्वी की आवर्जना, अनादृता, उपेक्षिता, पातालपुर की बन्दिनी, जहाँ तो न सूर्य की किरण थी, न पवन के गीत ! और आज है वह पृथ्वी ही का एक जीव, उसका अपना निजी व्यक्ति। अपना परिचय देने योग्य आज उसके निकट भाव है, गीत है और है बहुत कुछ।

'अब जी कैसा है ! कहो-कहो, चुप क्यों हो ?—सुकान्त ने फिर पूछा।

नीलिमा के नेत्र छलछला आये। उस सहानुभूति ने उसके दुःख, वेदना को वाष्प के रूप में परिवर्तित कर दिया, धीरे-धीरे वाष्प जमकर ऊष्मा होने लगा और फिर बूँद-बूँद में बह निकला। पहले दो, फिर चार और उसके बाद नीलिमा रो पड़ी—रो पड़ी, सिसक-सिसककर, फूट-फूटकर, अपना-पराया भूलकर, एक उद्दाम वेगपूर्ण झरने की भाँति—झर-झर-झर झर-झर।

सुकान्त का हाथ उठा और रूमाल से नीलिमा के नेत्र पोंछ दिये गये।

एक बार द्विधा किया न किया, जमींदार ने उसका हाथ पकड़ लिया। नीलिमा का शरीर काँपा। दूसरे पल उसका चोधहीन शरीर गिरने को हुआ। बड़े आदर, सम्मान से सुकान्त ने उसे अपने बाँह में उठा लिया एवं पलँग पर लिटाकर पंखा करने लगे।

धीरे धीरे नीलिमा ने आँखें खोलीं। उठना चाहती थी, किन्तु उसका अवश शरीर शिथल-सा होने लगा।

सुकान्त ने कहा—चुपचाप पड़ी रहो। मैं पंखा करता हूँ, शर्माती क्यों हो ! बीमारी सबको होती है।

'मैं दुखिया हूँ —और कुछ शायद वह कहना चाहती थी, किन्तु उस समय तो केवल इतना ही कह सकी।

स्मित हास्य से जमींदार का मुँह उज्ज्वल हुआ, मानो कह रहा हो—इस बात को मैं जानता हूँ अभागिनी, और भली-भाँति जानता हूँ।

× × ×

जमींदार शान्त भाव से बैठे उसके सर को थपकने लगे।

सुकान्त भोजन पर बैठे थे। हरमोहिनी कुछ थोड़े-से गहनों को खुशी-भरी दृष्टि से देख रही थीं।

दो हार थे, दो जोड़ी चूड़ी और दो जोड़ी इयररिंग। सब जोड़ियाँ एक प्रकार की थीं।

'इतना खर्च क्यों किया बेटा ? यदि कविता को कुछ देना था तो कुछ थोड़ा-सा दे देते।'—बोली हरमोहिनी।

'ज्यादा क्या है माँ ! काँच की चूड़ियाँ न पहनकर इन्हें पहन लेगी। दोनों बहन यों ही खाली हाथ रहती हैं, इससे कुछ बनवा दिया।'

'ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे, दिन-दिन उन्नति हो ! मेरी कविता दुःखिनी है। कभी भी उसे अच्छे कपड़े, जेवर नहीं दे सकी। मैं दुखिया पाती कहाँ से ?'

'कोई बात नहीं माँ, मैं तुम्हारा लड़का हूँ, तुम्हारा देना और मेरा देना कहीं दूसरा थोड़े ही है ?'

'तुम ऐसे ही हो बेटा।' और इसके बाद एक बार फिर से आशीर्वाद का पर्व शेष कर हरमोहिनी ने पूछा—द-दो जोड़े हैं ? किसके-किसके लिए हैं ?

'दोनों बहनों के हैं।'

विस्फारित नेत्र से हरमोहिनी कहने लगीं—नीलिमा के लिए ? वह तो बाल-विधवा है भैया। अदृष्ट में यदि खाना-पहनना लिखा होता तो सुहाग क्यों छिन जाता ? जैसी करनी कर आयी थी, वैसा भोग रही है।

'जानता हूँ—वह विधवा है। यदि हाथ, गले में कुछ डाल लिया तो हानि क्या है ? अभी उसकी अवस्था ही क्या है ? कितनी तो उस जैसी लड़कियाँ क्वाँरी हैं। बाल-विधवा है तो क्या हुआ, विवाह हो जायगा, जाने कितने ऐसे विवाह हुआ करते हैं। और होना भी चाहिए।'

'कलियुग अनाचार का युग है। अभी हुआ क्या है और भी होगा। विधवा का ब्याह ! छिः-छिः कैसी घृणा की बात है !'

'नहीं माँ, इसमें घृणा कुछ नहीं।'

'नहीं बेटा। कृस्तान लोग एक छोड़कर दस बार शादी किया करें, मुझे क्या। वे ईसाई हैं, उन्हें सब सोहाता है। मैं हिन्दू-स्त्री ठहरी। हे राम, और भी जाने क्या देखना पड़ेगा।'

सुकान्त मुसकराये—आप भूल कर रही हैं। यदि हम नीलिमा का पुनर्विवाह कर दें तो इसमें पाप नहीं, पुण्य है। आप ही कहिए न, उस बाल-विधवा का, जिसने कि पति को पहचाना नहीं; दुनिया का कुछ जाना नहीं; न लिखी-पढ़ी है और किसी शास्त्र, धर्म-ग्रन्थ का, यहाँ तक कि अपने निजी धर्म से भी जिसका परिचय-मात्र नहीं है, ब्रह्मचर्य जिसके पास एक जटिल समस्या-सा है, उसका जीवन बीतेगा कैसे? उसे अवलम्बन के लिए भी तो कुछ चाहिए न?

'क्यों, जैसे दूसरी विधवाएँ जिन्दगी काटती हैं पूजा-पाठ, व्रत-नियम करके, वैसे ही वह भी काटेगी।'—तीव्र स्वर से हरमोहिनी बोलीं।

'कैसे काटेगी? तो वह किसीको पहचानती है न? नहीं कैसे? मैं कहता हूँ, उन सबके अवलम्बन के लिए कुछ है और अवश्य है। किसीके पुत्र-कन्या है, जो माता बन पायी है, उसे तो किसी प्रकार की बाहरी सहायता की जरूरत ही नहीं पड़ती। किसीने सेविका का जीवन अपना लिया है, उसे उसी प्रकार शिक्षा दी गयी है। कोई ब्रह्म को पाने के लिए व्यस्त है, उसमें सार समझ चुकी है; कोई मुक्तिमार्ग का पथिक है, कोई दर्शन, कोई साहित्य आदि की चर्चा में लगी है, क्योंकि उसे वह समझती है; किसीके हृदय में पति की स्मृति है, और वह उस स्मृति को यथेष्ट समझती है। मैं पूछता हूँ, आपने अपनी लड़की के लिए और बाल-विधवा लड़की के लिए कौन-सा मार्ग चुन दिया है? अक्षर से जिसका परिचय नहीं कराया गया, उससे ब्रह्मचर्य पालन करने की आशा करना पागलपन नहीं तो क्या है?

हरमोहिनी चिढ़ीं तो ऐसी चिढ़ीं कि वहाँ से उठकर चली गयीं।

खीर का कटोरा हाथ में लिये द्वार पर खड़ी नीलिमा सब बातें सुन रही थी, सुना नहीं, वरन् निगल रही थी; वह वहाँ से हट गयी।

सुकान्त चुपचाप भोजन करने लगे। समझने में देर न लगी कि वाद-प्रतिवाद करना हरमोहिनी के निकट कलह का रूपान्तर मात्र है। चुपचाप भोजन करके वह उठ गये।

कविता को गहने पहनाकर हरमोहिनी को सन्तोष न मिला तो घर की दास-दासियों को एकत्रित कर दिखाने लगीं।

कहने लगीं—गहने पहनकर कविता कैसी अच्छी लग रही है, गुड़िया-सी!

विरक्त स्वर से कविता बोली—छिः! क्या कह रही हो, माँ? यदि ऐसा कहोगी, तो उतारकर फेंक दूँगी। गहने मुझे अच्छे नहीं लगते। तुम चिढ़ने लगीं तो पहन लिया।

हरमोहिनी ने अपने को रोक लिया, यद्यपि कुछ कहने के लिए ओठ ऐंठ रहे थे। दासी-चाकर की भीड़ थी। भीड़ का सम्मान रखने के लिए उन्हें चुप भी रहना पड़ा। नीलिमा के गहने कविता उसके सन्दूक में रख आयी।

माँ बोली—उसके सन्दूक में क्यों रखती हो? गहनों को वह क्या करेगी?

'रहने दो उन्हींके सन्दूक में।'—और फिर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही कविता वहाँ से चली गयी।

पूर्णिमा के पूर्ण यौवन की रात थी। रूप की अपूर्व छटा उसके सारे अंग से विकीर्ण हो रही थी। उस रूप-ज्योति में चातक की अनन्त प्यास बुझ-सी गयी थी। और उस रुपहली जाल में बैठी भूली-सी कोकिला पुकार रही थी—कु-ऊ, कु-ऊ।

उस कूक को सुनकर विरहिनी पृथ्वी शायद एक बार रोमाञ्चित हो उठी। और रात की सुषुप्ति एक बार सिहरी-सी।

गहरी नींद में, चाँदनी की गोद में, पृथ्वी अचेत पड़ी थी। जल-स्थल, आकाश आराम से झपकियाँ ले रहा था, केवल जाग रही थी वह, पृथ्वी से छिपकर, घर के कोने में बैठी आँसू बहा रही थी नीलिमा, बार बार सन्दूक की ओर देखती एवं सिसकने लगती। कोहेनूर था उसके घर में, बिलकुल हाथ के पास। वही कोहेनूर, जिसे पाने के लिए बड़े-बड़े राज्य मिट जाते हैं; जिसे पाने के लिए सभ्यता असभ्यता का घना आवरण मुँह पर डाल लेती है; जिसे लूटने के लिए राजा भी कभी तस्कर बन जाता है; था वही कोहेनूर, उसका अपना कोहेनूर और बिलकुल पास।

न यह चोरी थी, न लूट; वरन् एक का उपहार था, आतुर-स्नेह का चिह्न था। यह सब कुछ ठीक था, किन्तु फिर भी उस कोहेनूर को छूने का अधिकार उसे नहीं था।

एक बार द्विधा किया-न-किया, नीलिमा ने सन्दूक खोल डाला। सामने एक

सेट गहने रखे थे। उनके कारुकार्य ने, चमक ने उसके नेत्र-पल्लवों को आबद्ध-सा कर लिया, कोहेनूर—उसका कोहेनूर।

नीली के अन्तर की नारी धीरे-धीरे असहिष्णु होने लगी और हृदय की युवती नारी आहत-अभिमान से उस छोटी-सी छाती के भीतर सिर पीटने लगी। निषेध की कठोरता उसे उत्तेजित करने लगी, नियम का बन्धन उसे दुर्विनीत करने लगा। और द्विविधा करने लगा उसे अतिष्ठ, उसके बाद हृदय की आहत, नग्न नारी संयम के बाहर आकर खड़ी हो गयी। चहुँओर की वायु भारी हो गयी, कोहेनूर की दीप्ति फैलने लगी। उस वायु में अनेक दीर्घ श्वास, अनेक उपेक्षा, अनेक अभिमान मँड़राने लगे। नीलिमा ने दोनों हाथ से मुँह ढाँक लिया, नहीं-नहीं, वह देखना नहीं चाहती, कुछ सुनना नहीं चाहती, वह दुनिया में रहना चाहती है नीलिमा होकर, विधवा नीलिमा होकर।

नीलिमा ने आँखों पर जोर से हाथ दबा लिये। उसे लगा, कोई ऐसा भी आकर्षण उन गहनों से निकल रहा है जो कि अभी अभी उसे निगल जायगा। उसका जी चाहने लगा उन्हें एक बार और देखने के लिए, उसकी बाँह शिथिल हो गयी, आँखें फाड़-फाड़कर वह गहने देखने लगी, देखते-देखते दोनों हाथ से गहनों को समेट लिया और जोर से हृदय से चिपका लिया, चिपका लिया। उसे लगने लगा, अभी-अभी कोई डाकू आ जायगा और उसके कोहेनूर को उससे छीनकर ले जायगा।

कान में कोई कहने लगा—मत छुओ, मत छुओ, निषेध है।

निषेध? हाँ, निषेध—निषेध। नीली के अन्तर की नारी दुर्निवार होने लगी—उस निषेध को लाँघने के लिए। निषेध, निषेध केवल निषेध, रूखा-सूखा, नीरस निषेध। वह दोनों हाथों से ढूँढ़ने लगी, जरा-सी सहृदयता, उस निषेध में ढूँढ़ने लगी सहृदयता को, सब कुछ व्यर्थ हो गया, न मिल सकी थोड़ी-सी सहानुभूति, थोड़ी-सी करुणा, कल्याण, जरा-सा आँसू। नहीं, कुछ नहीं। सामने आ गया—निषेध, कठोर निषेध और निषेध अवमाननाकारी के लिए कठोर दण्ड।

हृदय से हटाकर गहनों को आँखों के सामने रख लिया। विभोर होकर देखने लगी। न द्विधा किया, न संकोच। हाथों में चूड़ियाँ डाल लीं, गले में हार, इयरिंग पहनकर आईने के सामने खड़ी हो गयी।

हो तो गयी खड़ी, किन्तु इस नीलिमा को वह पहचान न पायी। जल्दी से उसने बत्ती बुझा दी, अँधेरे कमरे में खिड़की से होती हुई एक टुकड़ा चाँदनी कमरे में लोट पड़ी और नीलिमा उस छोटी-सी चाँदनी में बैठ गयी—बिलकुल उससे सटकर। चाँदनी से वह मित्रता करने लगी। पाया उसने इतनी बड़ी दुनिया में उस मुट्ठी-भर ज्योत्स्ना को अपनी साथिन। चाँदनी उससे ऐसी लिपटी, मानो उसके जन्म-जन्मान्तर की परिचिता हो। नीलिमा अपने अणु-परमाणु में एकान्त रात की मुसकराती-सी चाँदनी को भर लेना चाहने लगी। धीरे-धीरे चाँदनी उससे हटने लगी और क्रमशः लोप हो गयी। विकल नीलिमा उस अँधेरे कमरे में उसे ढूँढ़ती फिरने लगी। नीलिमा ने द्वार खोला, शायद उस चाँदनी को पकड़ना चाहती हो। छत पर रुपहली चादर बिछी हुई थी। नीलिमा मुसकरायी—मुझे छकाकर कहाँ भागोगी? छत के बीच में नीलिमा आकर खड़ी हो गयी। ठीक उसी पल में सामने का द्वार खुला। नीलिमा भागना चाहने लगी। किन्तु भागकर जाती कहाँ? सुकान्त तो उसके सामने आकर खड़ा हो गया था न? और उसकी चाँदनी सखी भी मुसकराने में लग पड़ी थी न?

[१४]

'क्या वाल्टेयर जाना न होगा?'

'जाने कैसी बातें करते हैं आप जीजाजी, ज्वर के मारे दीदी बेसुध पड़ी हैं और आप जाने की धुन में हैं। वह अच्छी हो जायँ, फिर कभी चले चलेंगे।'

बातें हो रही थीं विभूति और पपीहरा में।

'वक्त समझकर बीमार पड़ गयी।'

'बीमारी कुछ कह-सुनकर थोड़े ही आती है? पड़े रहते किसीको भी अच्छा लग सकता है? आप भी जाने क्या कह देते हैं, जीजा?'

'मैं ठीक कह रहा हूँ, पिया!'

'ठीक कह रहे हैं? बीमार पड़ना भी कोई चाहता है?'—आश्चर्य से पिया बोली।

'यही कह रहा हूँ। उन्हें पसन्द है। ठंढ के दिन में महीन कपड़े पहनना, दिन में पचास-पचास बार साबुन रगड़ना। यह सब अत्याचार जायगा कहाँ?'

दीप्त स्वर से पिया ने कहा—साबुन लगाकर स्नान करना आपकी दृष्टि में

निन्दनीय हो सकता है, किन्तु सफाई के लिए साबुन की जरूरत पड़ ही जाती है। और कपड़े, जबकि भद्रता की, सभ्यता की देन हैं फैशनेबल वस्त्र, तो उसकी देन हमें देनी ही पड़ती है। इस बात को आप-जैसे शिक्षित एवं सभ्य व्यक्ति कदाचित् अस्वीकार न कर सकेंगे।

'लो; कहना मैं कुछ चाहता हूँ और समझ रही हो तुम कुछ। सभ्यता-सभ्यता-सभ्यता, बस, इसी सभ्यता के लिए केवल तुम्हारी दीदी से मेरी नहीं पटती। मतभेद होता रहता है। मेरा तो कहना है कि सभ्यता की देन हम सभ्य, सुसंस्कृतों को है ही, सभ्य रीति से रहो, भद्र-समाज में मिलो, पर्दा छोड़ो, उधर उन्हें पसन्द है पुरानी रीति। कुसंस्कारों में जकड़ी रहना ही तुम्हारी दीदी चाहती हैं; पड़ी तो हैं, पूछो न उनसे। सच कह रहा हूँ या झूठ, पूछो-पूछो—।

पलँग पर पड़ी यमुना ने एक बार भाव-शून्य नेत्रों से पति को देखा, उसके बाद आँखें बन्द कर लीं।

उसने 'हाँ' भी नहीं किया, 'नहीं' भी नहीं। बन्द कर लीं आँखें—इस तरह जैसे कि बहुत थक गयी हो।

'कहो न, आँखें क्यों बन्द कर लीं?'—विभूति ने अपना प्रश्न दुहराया।

उत्तर? नहीं, इस बार भी किसीने उत्तर न दिया। बोल उठी पपीहरा—किन्तु जीजा, अभी कुछ पहले आप जो कुछ कह गये, उससे तो कुछ और ही मतलब निकलता है।

'तुम स्त्रियों में यही तो एक बात है। जल्दी से रिमार्क पास कर देना, न कुछ समझना, न सोचना। कहना केवल चाहता था कि ऐसे वक्त उन्हें कुछ सावधान रहने की जरूरत थी, नियम से रहना था। स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए हमें चाहिए कि जब जिस चीज की उसे जरूरत हो तब उसे देना, प्रत्येक वस्तुएँ नियम पर बँधी हैं। सब बातों की सीमा है। स्वास्थ्य को जब उष्णता की जरूरत पड़ती है तब हमको चाहिए उसे उष्णता देना; ठण्ढ के दिनों में गरम वस्तु की व्यवस्था इसीलिए है। तुम तो सब जानती हो।'

'मैं कभी गरम कपड़े नहीं पहनती। कहिए, कभी बीमार पड़ते देखा है मुझे?'

'अपनी बात कह रही हो?'—अत्यन्त विस्मय के स्वर में विभूति कहने लगा—तुम्हारे साथ और किसीकी तुलना कैसे हो सकती है, पिया? इस सभ्यता

के युग में तुम हो एक आदर्श नारी। न कुसंस्कार, न किसी प्रकार के नियम, बन्धन तुम्हें बाँध सकते हैं। भरी नदी-सी, अपने गान में मस्त, बहती चली जाती हो। उस गान में स्वयं सन्तुष्ट हो। दुनिया उस गान को सुनने के लिए आतुर रहती है। तुम्हारी तुलना हो सकती है, किसीसे ? मित्रों में जब कोई बात उठ पड़ती है, तो मैं असंकोच तुम्हारा नाम लेता हूँ। सभ्यता, मार्जित रुचि, कल्चर्ड सब बातें तुममें हैं, कौन-सी स्त्री तुम्हारी तरह है ?

पिया चुप रह गयी। अभी-अभी जो पिया विभूति से विरक्त थी, व्यंग्य, परिहास से उसे बेध रही थी, वही पिया चुप रह गयी। उसके मुख पर प्रसन्नता की मुसकान थिरकने लगी, केवल इतना ही नहीं, वरन् उस स्तुतिवाद को पुनः-पुनः सुनने के लिए उसका जी चाहने लगा।

देर के बाद कुछ कहने के लिए पिया ने मुँह उठाया, परन्तु विभूति की उस अभद्र दृष्टि के सामने उसका मन जाने कैसा व्यस्त-सा होने लगा। पपीहरा उठी और अनमनी-सी बाहर निकल गयी।

उस दिन का सबेरा वर्षा की बूँदों से किलकारियाँ करता थका-माँदा मुरझाया-सा आया।

यमुना अच्छी हो चली थी, उसे दवा पिलाकर पपीहरा बाहर के कमरे में बैठी थी। उसका मन उदास था—बहुत उदास। कई दिन से काका का पत्र मिला नहीं। मन में न-जाने कैसी-कैसी अमंगल चिन्ता उठने लगी। पिया उठकर अस्थिरता से कमरे में टहलने लगी। मन और खराब हो गया तो चाबुक उठा लायी, बाहर जाने की तैयारी करने लगी। बाहर की ओर देखा, फिर कुर्सी पर बैठ गयी। निःशब्द गति से विभूति उसके पीछे आकर खड़ा हो गया। दो मिनट चुपचाप खड़ा रहा। इसके बाद अनायास उसके हाथ पिया के कन्धे पर चले गये। दुर्गन्ध से कमरा भर उठा। पिया चौंकी, एकदम उठकर खड़ी हो गयी।

कठोर स्वर से पिया ने पूछा—आप शराब भी पीते हैं, जीजा ?

अम्लान स्वर से विभूति कहने लगा—शराब पीना क्या अपराध है ?

पिया उसका मुँह निहारने लगी।

'ज़रा-सा पियोगी, पिया ? ऐसी चीज दुनिया में है नहीं। जरा चखकर तो देखो।'

जेब से 'ब्रांडी' की बोतल निकालकर विभूति ने टेबिल पर रख दी।

दुर्निवार क्रोध, विस्मय से पिया उस ओर देखती रह गयी। जड़ित स्वर से विभूति कहने लगा—बादल का कैसा अच्छा दिन है आज पिया और तुम बैठी किताब पढ़ रही हो? कोई गाना गाओ, नाचो, प्रेम की गाथा सुनाओ। सो कुछ नहीं, किताब पढ़ना, कैसी गन्दी रुचि है। आओ, गोद में बैठ जाओ, मैं ही कोई गजल सुनाऊँ।

'और कुछ सुनना मैं नहीं चाहती। इस वक्त आप चुपचाप जाकर कमरे में पड़ रहिए।'—हाथ उठाकर उसने द्वार दिखलाया—चले जाइए।

जल्दी से विभूति ने उसका हाथ पकड़ लिया, अत्यन्त विनय के साथ कहने लगा—मेरा हृदय सूना है पिया, एकदम सूना। उस सूने हृदय की रानी एक तुम ही बन सकती हो। आओ रानी, इस सिंहासन पर आसन जमाकर बैठो। शर्म कैसी? ये नखरे मैंने बहुत देखे हैं। आलोक, रमेश-जैसे लफंगे छोकड़ों के पास दौड़ी-दौड़ी क्यों जाती हो? घर में तो तुम्हारा सेवक बैठा है। लौटकर देखो भी तो सही; देखो, देखो।

झटके से पिया ने हाथ खींच लिया। उसका खून खौल-सा उठा। चाबुक उठाया—एक, दो, तीन। इसके बाद गिनने का अवसर न रहा। पटापट चाबुक पड़ने लगे—विद्युत्-सी तीव्र गति से।

उस सबल कर-प्रहार से विभूति अपने को न बचा सका। भागने की चेष्टा व्यर्थ गयी। चाबुक के उस व्यूह में क्षत-विक्षत, चकराया-सा विभूति खड़ा रह गया।

ठीक ऐसे ही समय, कमरे में प्रवेश किया निशीथ ने। कुछ देर प्रशंसापूर्ण दृष्टि से उस दृश्य को देखता रहा। उसके बाद विभूति को हटाकर सामने खड़ा हो गया—बस करिए, पिया देवी! विभूति-जैसे पशु के लिए मैं हूँ। बैठकर विश्राम करो। मुझे आज्ञा हो तो मैं सब कुछ करने के लिए तैयार हूँ, कह-भर दीजिए।

आरक्त नेत्र से विभूति उन दोनों को देखने लगा। आज सर्वप्रथम निशीथ ने इस अविनीत स्त्री के प्रति श्रद्धा अनुभव की।

पिया चुपचाप कुर्सी पर बैठ गयी।

एक निर्लज्ज हँसी के साथ विभूति बोला— स्त्रियों की समझ भी कैसी उल्टी होती है, निशीथ! जरा दिल्लगी की, आप समझ बैठीं कुछ और, ईश्वर ने न-जाने किस पदार्थ से इन्हें सृजा है। देख रहे हो न निशीथ?

'इस देवी के सामने से तुम हट जाओ विभूति और मेरे सामने से भी।'

'चला जाऊँ? पर इस घर में हुकूमत करनेवाले तुम कौन होते हो?'

अकड़कर निशीथ खड़ा हो गया—सब कुछ। नारी का अपमान करनेवाले पशु को दूर करने का अधिकार मनुष्य-मात्र को है, और इस बात को प्रत्येक मनुष्य जानते भी हैं; किन्तु तुम हो उसके बाहर के जीव, बस, सीधे चले जाओ।

'नहीं जाऊँ यदि?'

'चले जाओ, मैं कहता हूँ जाओ।'

'अच्छी दिल्लगी है, दूसरे के घर बैठकर उसी पर हुकूमत चलाना!'

'चाहे जो कुछ समझो।'

'न तुम्हारे कहने से जाता हूँ और न तुमसे डरता हूँ। काम है और, इससे मुझे जाना पड़ रहा है।'—विभूति निकलकर चला गया।

निशीथ ने कहा—इस चाबुक के लिए पहले न-जाने कैसे-कैसे परिहास कर चुका हूँ, पिया देवी! आज मेरा प्रायश्चित्त का दिन है। मेरा भ्रम निकल गया। आज का दिन मेरे लिए शुभ होकर आया है, शक्ति और देवी के दर्शन साथ हो गये। क्या उन दिनों के लिए आप मुझे क्षमा नहीं कर सकतीं!

'क्षमा!'—परिहास से पिया का स्वर मचलने लगा।

'और आज मिनट-भर में आप समझ गये कि वह भ्रम था? बड़े अचरज की बात है। मनुष्य को समझना कदाचित् ऐसा सहज नहीं भी हो सकता है, निशीथ बाबू।'

निशीथ देर तक चुप रहा। जब वह बोला तब उसका स्वर दर्द से भरा हुआ था—नारी के वास्तविक रूप के देखने का सौभाग्य जब अचानक ही मिल गया, तो उस समय मैं अपने को सँभाल न सका। न-जाने क्या-क्या बक गया। यदि आप सचेत न कर देतीं, तो और भी न-जाने क्या बक जाता। भूल गया था कि आप मर्द-मात्र से घृणा करती हैं।

पिया ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

'एक बात मैं पूछ सकता हूँ ?'—निशीथ ने कहा।

'कहिए।'

'विभूति बाबू क्या अब भी यहीं रहेंगे ?'

'शायद रहें।'

'इस घर में उनका रहना शायद ठीक न हो।'

अनायास पिया ने उत्तर दिया—हानि क्या है ?

'और पहाड़ पर जाना ?'

'न होगा। दीदी बीमार पड़ गयीं न।'

'यमुना देवी अब कैसी हैं ?'

'अच्छी हैं, कमजोरी अधिक है। जरा चलने-फिरने लगें तो उन्हें ससुराल भेजकर मैं गाँव चली जाऊँगी, काका के पास। उनके लिए मेरा जी घबराता है।'

'साथ में कौन जा रहा है ?'

'आपके साथ चलूँगी।'

कहने को तो पिया कह गयी 'आपके साथ,' निशीथ की समझ में बात न आयी कि पिया व्यंग्य कह रही है या सच कह रही है।

निशीथ को उठते देखकर पिया ने पूछा—आप जा रहे हैं ?

'चलूँ न ?'

'अच्छी बात है। कभी-कभी आ जाइएगा।'

निशीथ को अपने कानों पर विश्वास न आया कि उसे आने के लिए अनुरोध किया जा रहा है, और अनुरोध करनेवाली कोई दूसरी नहीं स्वयं पपीहरा है। कुछ कहने के लिए वह लौटा, किन्तु पिया तब तक भीतर चली गयी थी।

दूसरे दिन सवेरे पिया ने सुना कि विभूति घर पर नहीं है, रात से उसे किसीने घर देखा नहीं।

पपीहरा पड़ गयी संकट में, अब यमुना से कहा क्या जावे ? कौन-सी कहानी रचकर सुनायी जाय ?

नौकर दौड़ा आया—यमुना उसे बुला रही है।

यमुना के पास वह चली गयी और सहज भाव से कहा—बुखार आज भी नहीं आया। अब न आयेगा।

यमुना केवल बोली—हूँ।

'जरा और अच्छी हो लो, तो काका के पास चली चलें, गाँव मैंने कभी देखा नहीं।'

'सुन लिया है न, वह रात से घर नहीं हैं।'

'घर चले गये होंगे।'

'किसीसे कहे बिना ही?'

'तुम भी नाहक सोच में पड़ी हो, अरे! क्या वह कहीं भाग गये?'

'नहीं, फिर भी इस तरह से जाना, मुझे तो जाने कैसा लग रहा है?'

'लगने को क्या है। घर से कोई जरूरी सन्देशा आ गया होगा और रात में उन्हें चले जाना पड़ा।'

'मुझे तो कहते।'

'तुम सो गयी होगी, ऐसी कमजोरी में उन्होंने जगाना ठीक न समझा होगा।'

'न-जाने बहन, क्यों जी धड़क रहा है। लगता है, कोई संकट आने को है। क्या बात है, सो कैसे जानें?'

'यह सब दुर्बल मस्तिष्क का विचार-मात्र है, तुम भी जाने क्या सोचती हो, दीदी?'—पिया जोर से हँसने लगी।

कल की बात वह यमुना से छिपाना चाहती थी, कहने लगी—कैसी पागल हो तुम दीदी! यदि बीजा संकट में पड़ते तो हमें खबर न होती! लो, मैं आज ही उनका पता लगाती हूँ। आज पार्टी है, वहाँ चली जाऊँगी, उनके मित्रों से पूछ लूँगी, तार तुम्हारे ससुराल में भी डाल देती हूँ।

मिस्टर रसल के घर पार्टी में जाकर निशीथ निर्वाक् रह गया। टेबिल पर बैठी पपीहरा चाय पी रही थी। ईसाई के घर बैठकर हिन्दू स्त्री का चाय पीना, छिः—घृणा से निशीथ सिहरने लगा। गम्भीर मुख से वह टेबिल पर बैठा, एक केला खाया और बस।

'चाय न पियेंगे?'—पिया ने पूछा।

'नहीं। मैं हिन्दू हूँ, दूसरे के घर पानी कैसे पी सकता हूँ?'

पपीहरा मुसकरायी—हिन्दू तो शायद मैं भी हूँ, निशीथ बाबू!

'अपनी-अपनी रुचि तो है।'

'और निष्ठा, संस्कार।'—पिया ने जोर दिया।

निशीथ तिलमिलाया, मानो अभी-अभी उसे बिच्छू ने डंक मारा हो।

निशीथ ने कहा—यदि ऐसा हो तो अपने को धन्य समझना चाहिए। हिन्दू के लिए निष्ठा, संस्कार कोई हँसने की बात नहीं है, वरन् गर्व की बात है।

'तो मैं कब कहती हूँ, उस पर हँसी ही उड़ायी जाय? वैसे तो यह भी हँसने की बात नहीं है कि प्रत्येक जाति को हम मनुष्य की जाति ही कहेंगे—पशु, राक्षस की जाति नहीं। ऐसी स्थिति में श्रद्धा, सम्मान यदि अपने-आप आकर अड़ जावे – उसी मनुष्य-जाति के लिए, तो इसमें भी समालोचना की जगह नहीं रह सकती। हम भी मनुष्य की जाति हैं और कदाचित् आये भी उस एक स्थान से होंगे।'

'ऐसा मैं नहीं कहता पिया देवी कि हम निष्ठावान् हिन्दू अछूत की समालोचना, घृणा किया करें, नहीं; परन्तु निष्ठा एक दूसरी चीज है। जिस यज्ञोपवीत को हम गले में डाले हैं, उसका सम्मान भी तो हमें रखना है न? यदि शरीर अपवित्र हो जायगा, तो उस पावन जनेऊ को हम गले में रख कैसे सकेंगे? और फिर उस अशुचि शरीर से ठाकुरजी को भोग कैसे लगा सकेंगे?'

पिया हँसी, न जोर से, न खिलखिलाकर; वह हँसी धीरे—बहुत धीरे।

'आप हँसती हैं?'

'नहीं, मुझे आश्चर्य केवल इस बात पर है कि यदि ईश्वर महान् है, तो वह किसी जाति-विशेष के कठघरे में बन्द कैसे रह सकता है? यदि वह निर्विकार है तो वह जीव-मात्र का क्यों नहीं है? यदि मनुष्य-मात्र की आत्मा है, तो वह आत्मा अशुचि हो ही कैसे सकती है? आत्मा तो ईश्वर का अंश है न? जनेऊ? किन्तु मैं पूछती हूँ, दुनिया के साथ हमारा प्रथम परिचय आरम्भ हुआ कैसे? मनुष्य के नाते या जाति के नाते? कहिए—कहिए।'

'मनुष्य के नाते।'

'आप ही कहिए कि अब किसे माना जाय, मनुष्य की वास्तविक मर्यादा को या मनुष्य के बनाये हुए जाति-विचार को?'

'मेरी भी कुछ सुनिए।'

'कहिए न, सुन तो रही हूँ।'

'महाप्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि आरम्भ होती है तब न किसी नियम का रहना संभव है, न शृङ्खला का। किन्तु जब धीरे-धीरे सभ्यता से उस सृष्टि का परिचय हो जाता है, तब नियम, शृङ्खला में वह सृष्टि जकड़ जाती है और उस सभ्य जगत् के जीव वास्तविक स्थिति को पहचानने लगते हैं; शुचिता, निष्ठा की मर्यादा को समझने लगते हैं।'

'मर्यादा नहीं, अमर्यादा कहिए, अपमान कहिए। याने जब मनुष्य सभ्य हो जाता है तब वह अपने-आपका अपमान करने लगता है।'

'अपने-आपका अपमान?'

'हाँ-हाँ, अपने-आपका अपमान। वरन् यों कहिए कि साथ-ही-साथ उस अनन्त ब्रह्म और उसकी सृष्टि का अपमान, अमर्यादा करने लगता है।'

'प्राच्य और पाश्चात्य सभ्यता अलग-अलग है। आप पाश्चात्य सभ्यता से भली-भाँति परिचित हैं, किन्तु प्राच्य सभ्यता से नहीं। जिस दिन आप उसे समझने लगेंगी, उस दिन मेरी बातों को भी समझने लगेंगी। अभी तक ऐसे-ऐसे अत्याचार के बाद भी जो हिन्दुस्तान आज भी जीवित है, वह केवल निष्ठा और धर्म के बल पर।'

'क्षमा करें, निशीथ बाबू! उस सभ्यता को मैं दूर ही से नमस्कार करती हूँ, जो सभ्यता हमें अपने-आप को घृणा करना सिखावे।'

'आप फिर भी वही बात करेंगी। घृणा कैसी? यदि अपने विश्वास की तरह किसीने किसीका बनाया भोजन न किया, तो उसे आप घृणा कैसे कह सकती हैं? बिना नियम के कहीं सृष्टि भी पली है? प्रत्येक देश, प्रत्येक वस्तु नियम और शृंखला के बल पर जीवित हैं।'

'होगा भी, मुझे देर हो रही है, दीदी अकेली हैं। चलिये, मुझे पहुँचाना है।'

'मैं?'—निशीथ इस तरह चौंका कि पिया खिलखिला पड़ी।

पिया उठी और सम्राज्ञी की तरह चल पड़ी। पीछे लौटकर भी न देखा कि निशीथ उसका अनुगामी है या नहीं। वह चल पड़ी, इस भाँति कि आदेश-आज्ञा देने ही के लिए पृथ्वी पर आयी हो और उस आदेश को न माननेवाला दुनिया में कोई पैदा ही न हुआ हो।

ड्राइवर के पास निशीथ को बैठते देखकर पपीहरा मुसकरायी। असंकोच निशीथ का हाथ पकड़कर उसने अपने निकट बैठा लिया।

पिया के नित्य नये व्यवहार से निशीथ ऐसा विस्मित हो गया कि एक शब्द तक मुँह से न निकाल सका।

'आप तो मौनी बाबा बन गये।'

'मौनी? नहीं तो। यमुना देवी अब कैसी हैं?'

'अच्छी हैं। जीजा का पता नहीं।'

'मेरे मित्र कह रहे थे, रेल पर उन्हें चढ़ते देखा है।'

'घर गये होंगे!'

'सम्भव है।'

'दीदी बहुत घबराती हैं।'

'उन्हें समझा दीजिए।'

[१५]

ऐसी अनहोनी बात का हरमोहिनी विश्वास नहीं कर सकती थीं और इसीसे बार-बार पूछ रही थीं—मेरी कविता, मेरी दुखिया बेटी को स्वयं जमींदार ब्याहने कहते हैं? तुमने भूल तो नहीं सुना, गोविंद भैया? सच कहो भाई, वे स्वयं ब्याहेंगे?

गर्व के साथ गोविन्द ने कहा—मैं हूँ किस लिए? यदि बहन के काम न आया, तो भाई किस काम का? ऐसी लड़की उन्हें मिलेगी कहाँ?

'ईश्वर तुम्हारा भला करे, भैया! मैं दुखिया हूँ। मुझे डर है—पीछे कहीं वह बदल न जावे।'

'ऐसा न होगा। हाँ, वे कुछ आगा-पीछा तो जरूर कर रहे हैं।'

'ऐसी बात? कह न रही थी।'

'नहीं-नहीं, वैसा कुछ नहीं है।'

'तो बात क्या है?'

'उन्हें विचार है सिर्फ अपनी भतीजी पपीहरा का, कि कहीं उसे अनुचित न लगे। बहुत चाहते हैं न उसे। तुम इधर की तैयारियाँ जल्दी कर लो, जिससे अगले सोमवार तक शादी हो जावे।'

'अच्छी बात है, मैं सब कुछ कर लूँगी।'—कहते हुए आनन्दाश्रु को पोंछती गृहिणी काम में लग पड़ी।

बात फैलते देर न लगी। कविता ने सुनी। बोली कुछ नहीं, न मुख-भाव का ही परिवर्तन हुआ। केवल उसका स्वाभाविक गाम्भीर्य और जरा बढ़ सा गया। और बस, इसके बाद कोने के कमरे में, किताबों के बीच वह ऐसी डूबी कि उसे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते सारा घर हैरान हो गया। जब वह वहाँ मिली तो हरमोहिनी ने अपना सिर पीट लिया। चिल्लाकर कहने लगीं—दो दिन पीछे जिसे राज-रानी होना है, उसका ऐसा अनादर? पाँच हाथ की जवान लड़की बैठी है, न कुछ देखना, न सुनना। ऐसा नहीं होता कि चलो, छोटी बहन को तो जरा देखूँ। बस, खाना, सोना और ठिठोलियाँ करना। सुकान्त जरा हँसकर बातें कर लेता है न, तो आप सरग पर चढ़ी चली जाती हैं। नहीं समझती कि यह सब सुख-आराम किस लिए मिल रहा है। उसी छोटी बहन के लिए न? वरना तुझे पूछता कौन? अँधेरे कमरे में लड़की भूखी प्यासी पड़ी है और आप अटारी चढ़ी बैठी हैं। धिक्कार है, धिक्कार, धिक्कार!

'दीदी बेचारी को क्यों बक रही हो, माँ? वह क्या जाने कि मैं यहाँ हूँ।'—कवि ने कहा।

'चलो बेटी, स्नान-भोजन करो। मैली साड़ी किस लिए पहने हो? तुम्हारा ही तो सब कुछ है। चलो, कपड़े बदलो। आत्मीय, कुटुम्ब आते जा रहे हैं। किताब बन्द करो।'

'इतना और पढ़ लूँ।'

'नहीं-नहीं। अब पढ़ना-वढ़ना नहीं।'

अनिच्छा के साथ कविता उठी। उसे स्नान कराकर सुन्दर वस्त्र, भूषण पहनाये गये। हरमोहिनी स्वयं उसे भोजन कराने बैठीं। दासी-चाकर पंखे झलने लगे। कोई लोटा-गिलास लेकर दौड़ा, कोई मलाई का कटोरा लाया।

'यह सब क्या है, माँ?'—कविता ने पूछा।

माता मुसकरायीं।

'क्या मैं कोई तमाशा हूँ?'—कविता असहिष्णु हो रही थी।

'तू राज-रानी है, बेटी!'

कविता के हाथ का ग्रास हाथ में रह गया। रानी—राज-रानी, क्या बात सच है? उसके नेत्र छलछला आये। माता कह चलीं—तेरी सेवा, तेरा सम्मान तो होने का ही है, साथ-साथ तेरी दुःखिनी माँ-बहन का आज कितना सम्मान, कितना आदर है, जरा देख तो सही।

जाने बात क्या थी कि कविता के आँसू न रुके, न रुके। सबको विस्मित, स्तम्भित कर, वह रोकर भागी और भागती ही चली गयी।

आत्मीय परिजन और गृहिणी पीछे दौड़ीं। द्वार के सामने हरमोहिनी ने उसे पकड़ लिया, हृदय से लगाया। कहने लगीं—ऐसे शुभ दिन में कहीं कोई रोता है? बाप की याद आ गयी होगी। क्या किया जाय, बेटी! उनके अदृष्ट में लड़की का सुख, ऐश्वर्य देखना बदा न था।

कविता को लेकर गृहिणी एकान्त कमरे में चली गयीं।

'रोना कैसा कविता?'— पूछा माँ ने।

कुछ कहने के लिए कविता हुई और फिर चुप हो गयी।

अपने आवेग में माँ कहने लगीं—इस खुशी को मैं सहूँ कैसे? दरिद्र की सन्तान राज-रानी बन रही है। हम होंगी रानी की माँ-बहन, हमारा दुःख-दारिद्र्य सब जाता रहेगा।

कविता कुछ कहना चाहने लगी—उसने फिर मुँह खोला; किन्तु कुछ कह न पायी। माता के वचन उसके कानों में मँडराने लगे। सान्त्वना देने लगे—माँ-बहन का दुःख-दारिद्र्य जाता रहेगा। इस जीवन के प्रातःकाल में क्या इतना ही कम लाभ है? वह विचारने लगी—जीवन के मध्याह्न और संध्या-वेला को क्या इसी महामन्त्र के बल पर नहीं काट सकूँगी?

विवाह के दिन नीलिमा बन्द कमरे में बैठी न-जाने क्या करने लगी। उधर हरमोहिनी उच्च स्वर से इस बात के प्रचार में लगीं कि यह केवल ईर्ष्या है। छोटी बहन का रानी होना उसकी आँखों में खटक रहा है। ऐसी लड़की पेट में आयी कि मुझे जलाकर खाक कर डाला।

नीलिमा की मौसी उसके रुद्ध-द्वार पर खड़ी हो गयीं—'बेटी नीली!' वह पुकारने लगीं।

जब किसीने कुछ उत्तर न दिया तो कहने लगीं—निकल आओ। छिः, ऐसा कहीं कोई करता है? छोटी बहन पर ईर्ष्या करना पाप है।

नीलिमा से जब न रहा गया तो द्वार खोलकर निकली।

'छोटी बहन पर कहीं कोई ईर्ष्या करता है!'—मौसी फिर से बोलीं।

'तुम भी ऐसा कहती हो, मौसी!'

'मैं तो सच कह रही हूँ, बेटी!'

'क्या मैं उस पर ईर्ष्या करती हूँ? तुम सच कह रही हो? क्या मैं कविता पर ईर्ष्या कर सकती हूँ, मौसी? जरा मेरी ओर देखकर भी सच कहो।'

मौसी चकरानी-सी उसका मुँह निहारने लगीं।

'दुनिया कहती है और तुम भी कहती हो मौसी, कि छोटी बहन पर मैं ईर्ष्या करती हूँ, तो इसी बात को सच रहने दो।'

'तेरी माँ ऐसा कहती हैं। मैं तो सुनी बात कह रही हूँ। चल बिटिया, जाने दे इन बातों को।'

'नहीं, मुझे यहीं रहने दो।'

'चल नीली, दुनिया क्या कहेगी?'

'चाहे कुछ कहे। मैं और कितना सहूँ? और क्या करने कहती हो मुझे? सबके सामने माँ सदा योंही कहती रहती हैं। कल रात भोजन के समय वह मुझे ऐसी-ऐसी बातें जमींदार के सामने कहने लगीं कि वहाँ से भागते ही बना। मेरी छोटी बहन और उसीके सामने मुझे ऐसा कहा करती हैं। मैं लिखी-पढ़ी नहीं हूँ, गँवार हूँ, फिर आदमी ही तो हूँ न?'

'चुप रह बिटिया, कुटुम्ब-परिजन से घर भरा हुआ है। लोग क्या कहेंगे?'

'कहेंगे यही कि बड़ी-छोटी से ईर्ष्या करती है। माँ तो ऐसा सबको समझा रही हैं न! मैं कवि को बकती-झकती हूँ तो क्या उससे ईर्ष्या भी करती हूँ? मुझे यहीं रहने दो मौसी।'—वह रोने लगी।

बड़ी मुश्किल से उसे शान्त कर मौसी उसे बाहर लायीं और साथ ले गयीं।

[१६]

लम्बा-चौड़ा पत्र पढ़ते-पढ़ते पपीहरा मारे खुशी के उछल पड़ी। दस बार

पढ़े पत्र को फिर पढ़ती, शिशु की भाँति हँस देती, कभी सिर हिलाती हुई कुछ कह उठती। इसी भाँति घंटे बीते।

उसका ध्यान कुत्ते पर गया। कुत्ते को गोद में उठाकर पपीहरा कहने लगी—सुनता है लूसी, काका ने शादी की है। एक सुन्दर—वन-कन्या-सी सुन्दर लड़की से। वह मुझसे जरा बड़ी है, जरा बड़ी, बहुत नहीं, और मुझसे दुबली। वह मुझे बहुत प्यार करेगी, तुझे भी। हमें अब अकेले न रहना पड़ेगा, उससे हम, तुम खेलेंगे। मैं उसे पुकारूँगी—काकी! वह पुकारेगी—पिऊ! टाइगर को वह चाहेगी।

इसके बाद पिया दौड़ी बाहर चली गयी और जो उसके सामने पड़ा उससे कहने लगी—काका ने शादी की है। बड़ी अच्छी लड़की है। लिखना-पढ़ना जानती है। सिलाई जानती है। सब जानती है। बस, घोड़े पर चढ़ना नहीं जानती। दो दिन में यह भी उसे सिखा लूँगी।

यमुना ने जब बात सुनी तो आकर खड़ी हो गयी। पिया शायद देर तक यों ही बकती जाती, किन्तु सहसा उसे लगा कि आनन्द के बदले यमुना विमर्श-सी हो रही है।

पिया ने यमुना से पूछा—जी खराब तो नहीं है?

'क्या सचमुच मामा ने बुढ़ापे में विवाह किया है?'

पिया चिढ़ी—बूढ़े की कौन-सी बात है? जब जिसका जी चाहा तब उसने शादी कर ली। इसमें जवान, बूढ़ा क्या?

'कैसी बातें करती है, पिया? इस उमर में कहीं शादी की जाती है?'

'क्या काका बूढ़े हो गये?'

'चालीस-पैंतालीस जिसकी अवस्था है, वह बूढ़ा नहीं तो क्या जवान है?'

'चालीस-पैंतालीस में लोग बूढ़े नहीं होते।'

'होते कैसे नहीं! उन्होंने शादी की होगी एक अठारह या बीस वर्ष की लड़की से। कहाँ अठारह और कहाँ पैंतालीस।'

'इसमें हानि क्या है?'

'जन्म-भर तू बच्ची बनी रहेगी, पिया? आजकल मनुष्य की आयु ही है पचास वर्ष की। ईश्वर ऐसा न करे, किन्तु यदि दो-चार वर्ष में ऐसा कुछ हो

गया तो लड़की अपनी उस बड़ी ज़िन्दगी को किसके भरोसे काटेगी ? यदि उन्हें विवाह करना था तो पहले क्यों न कर लिया ?'

'उस वक्त यदि उनका मन न चाहा हो, तो इसके लिए वह क्या करते !'

'ऐसा मन किस काम का जिसपर अपना अधिकार न रहे।'

पिया हँसी और जोर से हँसी—तुम्हारा अधिकार है अपने मन पर ?

'अवश्य है।'

'या तो तुम झूठ कह रही हो, नहीं तो उसके बारे में तुम अभी अनजान हो।'

'सबके मन एक काँटे पर नहीं तुल सकते, पिया !'

'होगा। मैं कल जा रही हूँ, काका ने जल्दी बुलाया है। तू भी चलना, दीदी भाई !'

'मैं कैसे आऊँ ? उनका पत्र आया है। नायबजी मुझे लेने के लिए आ रहे हैं। कल सबेरे चली जाऊँगी।'

'देखूँ चिट्ठी।'

'फाड़ डाली।'

'झूठ। मैं जानती हूँ—जीजाजी की चिट्ठी तू कभी नहीं फाड़ती। उसमें जरूर कोई ऐसी बात लिखी है जो मुझसे छिपाना चाहती हो, मगर मैं पढ़कर ही दम लूँगी।'

यमुना के कमरे में पिया दौड़ी गयी। इधर-उधर ढूँढ़ते ढूँढ़ते पत्र मिल गया। बड़े आग्रह से वह पढ़ने लगी और रक्तहीन मुख से यमुना चुप बैठ गयी।

पत्र पढ़कर पपीहरा गरजने लगी, सावन-भादों के मेघ-सी—नीच कहींका ! लिखते हैं—'चली आओ। कभी जीते-जी उन कमीनों के घर जाने का नाम न लेना।' मेरे काका कमीने हैं, नीच हैं—और वे हैं भलेमानस। छिः, छिः ! कैसा असभ्य लेख है ! कोई दासी-चाकर को भी इस तरह नहीं लिख सकता। कैसे मजे से लिख रहे हैं—'अब तुम्हारा उन लोगों से कोई सम्बन्ध न रहेगा। अगर इस बात को तुम मंजूर कर सको तो चली आना, वरना तुम वहीं रह सकती हो। मुझे भी औरतों की कमी न होगी।'—दीदी, दीदी, तू रोती है ? इस अपमान के बाद भी तुम वहाँ जाओगी ? और हम सबको छोड़कर रह सकोगी ?

'मुझे जाने दे पिया।'

पिया चुप रही।

'जाऊँगी ; क्योंकि मुझे जाना है, और इस बात को न तू भूल सकती है न मैं, कि मुझे जाना है।'

पपीहरा अब भी कुछ न बोली।

'जन्म-भर के लिए मैं विदा माँगती हूँ रानी, केवल एक बात मुझे कह दे।'

पिया के जिज्ञासु नेत्र की ओर देखकर यमुना ने कहा—उनके अचानक चले जाने में कोई रहस्य अवश्य छिपा हुआ है और उसे तू जानती है। मेरा अन्तिम अनुरोध है कि उस रहस्य को मुझसे छिपाओ मत, बहन! यह मेरा अन्तिम अनुरोध और विनय है।

दृढ़ स्वर से पिया ने उत्तर दिया—रहस्य तबतक आकर्षक रहता है, जब-तक कि वह रहस्य रहे। और उसके खुल जाने से तो एक साधारण-सी बात हो जाती है। उसे जानने में यदि रहस्य है तो उसे रहस्य ही रहने दो। दूसरी बात, जब मैं कुछ जानती नहीं तब तुमसे कहूँ क्या? तो तुम उनकी शर्तों को मानकर जा रही हो?

यमुना मुँह छिपाकर रोने लगी। उत्तर देने की चेष्टा मात्र न की। उत्तर देतीं ही क्या?

पपीहरा को भी रोना आ गया। आँखें पोछकर बोली—परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकती थी। जिस काम को तुम सहज में कर रही हो, उसे मैं किसी तरह भी नहीं कर सकती थी, दीदी!

'मुझे क्षमा करो, बहन!' बोली यमुना बहुत धीरे।

'क्षमा? तो किस लिए? अपनी-अपनी रुचि है, दुःख को तुम जीतना नहीं जानती हो, जानती हो उसमें पिसकर निश्चिह्न हो जाना।'

यमुना वैसे ही सिसकने लगी।

'जाओ, दीदी! मैं भी तुम्हें वचन देती हूँ, इस घर में तुम्हें लाकर ही छोड़ूँगी'।

भीत जमुना कह उठी—झगड़ा-लड़ाई करने से मेरा दुःख बढ़ जायगा।

पिया मुसकरायी—इस बात को मैं भली-भाँति जानती हूँ। डरो मत, तुमको मैं कभी भी अस्वीकार नहीं कर सकती हूँ। यदि तुम न होकर कोई और स्त्री

होती तो आज—जाने दो उस बात को। ऐसा काम तुम्हारी पिया नहीं कर सकती, जिससे उसकी दीदी को दुःख पहुँचे।

पिया बाहर चली आयी। बाहर के कमरे में चुपचाप बैठ गयी।

नौकर आकर बोला—आलोक बाबू और निशीथ बाबू आये हुए हैं।

विरक्त स्वर से पिया ने कहा—अभी फुरसत नहीं है, जाने को कह दो उनसे।

नौकर चला गया, आगन्तुकों को सन्देश सुनाया। वे दोनों दालान से जाने लगे, ऐसे समय पीछे से पपीहरा की आवाज सुनायी पड़ी—यदि आये हैं, तो मिले बिना कैसे चले जा रहे हैं? कदाचित् यह भारतवर्ष की सभ्यता हो।

उत्तर की कमी निशीथ के कण्ठ में थी नहीं; फिर भी वह चुप रहा। इस तरुणी से उसका परिचय जितना निविड़ होता जाता था, उतना ही निशीथ विस्मित होता था। एक सत्रह-अठारह वर्ष की लड़की को वह अब भी पहचान न पाया।

आलोक से चुप न रहा गया। बोला—घर से बुलवाकर नौकर से कहला देना कि मुझे फुरसत नहीं है। ऐसी सभ्यता भारतवर्ष की नहीं, यूरोप की हो सकती है।

पिया एकदम गरम हो गयी—दिन-रात आकर यदि कोई तंग करे, तो उसके लिए दवा यही दी जाती है। समझे न आप?

असहनीय विस्मय से निशीथ का स्वर कण्ठ ही में मर मिटा। उसे लगा—कदाचित् किसी एक दिन, किसी एक दुर्विनीत मनुष्य के अत्याचार से, अपराध से इस नारी की कोमलता कठोरता में परिवर्तित हो गयी हो। सरल सहृदय का विनाश हो गया हो, और उसी एक के अपराध का बदला यह पुरुष-मात्र से लेना चाहती हो। उस एक के अपराध से यह तरुणी शायद पुरुष-जाति का ही उपहास करना चाहती हो।

कुछ देर चुप रहकर फिर आलोक ने कहा—घर से बुलवाकर फिर अपमान से दूर कर देने में कौन-सा आमोद मिलता है पिया देवी, सो तो आप ही जानें। अच्छा, नमस्कार। आलोक चला गया।

निशीथ भी चलने को हुआ, किन्तु पपीहरा के आहत स्वर से उसे लौटना पड़ा। उसने सुना, पिया कह रही है—हर वक्त क्या किसीका मन अच्छा रहता

है ? यदि मुँह से कुछ निकल गया तो उस मुँह की बात पर क्या दण्ड दिया जाता है ?

फिर भी निशीथ उस लड़की को समझ न पाया, वह विचार न पाया कि अभी-अभी अकारण जो व्यक्ति चिढ़ सकता है, अभी एक पल के भीतर वैसे ही, कारण बिना वह व्यक्ति जल-सा उत्तापहीन कैसे हो सका ?

निशीथ ने कहा—जिसलिए भी हो, आज आपका मन अस्वस्थ है। मुश्किल यह है कि कारण पूछना भी एक समस्या है। कदाचित् उसे आप अनधिकार चर्चा कह बैठें। ऐसी स्थिति में शायद चुप रहना एक अच्छी बात है।

'यदि कभी कुछ कहा हो तो उस एक दिन की बात ही क्या आदमी की सब कुछ हो सकता है ? यदि आप-सा नाप-तौलकर कोई बात न कर सके ? औ ऐसा न कर सकना क्या उसका अपराध है ? क्या करें आप, मर्द की जाति हर ऐसी है। हर बात को काँटे में तौलो तब कहीं उसे मुँह से निकालो। यही आपका कहना है न ? यदि मुँह से कुछ निकल गया, बस उसका विचार भी शुरू हो गया। किस दिन मैंने क्या कह दिया और उसीको लेकर आज—आज।

पिया रोकर उठ गयी। और निशीथ ? वह स्तब्ध विस्मय से वैसा ही बैठा रह गया।

[१७]

जरूरी काम से निशीथ बाहर जा रहा था, ऐसे समय छोटा-सा पत्र मिला पपीहरा का। लिखा था—जरूरी काम है, जल्दी आने की कृपा करें।

ठीक ऐसा ही पत्र पाकर वह कल दौड़ता गया था। निशीथ विचार में पड़ गया। जायँ या न जायँ ? आज भी शायद कल-जैसा अपमानित होकर लौटना पड़े। पिया से मिलने का परिणाम निकलता है केवल कलह और मनोवेदना।

एक बार उसने सोचा, क्या जरूरत है जाने की ? और दूसरे ही क्षण न उसने सोचा, न विचारा ; सीधा मोटर पर चढ़कर बैठ गया, मोटर चल दी। पत्र-वाहक चकराया खड़ा रह गया। उसे उत्तर नहीं मिला, न कुछ कहा गया।

द्वार पर हँसती खड़ी थी पपीहरा। बोली—ऐसी जल्दी आ गये, मैं किन्तु सोच भी न सकी थी कि इतनी जल्दी पहुँच जायँगे। आइए।

निशीथ अप्रस्तुत हुआ—ऐसी जल्दी उसे आना न था।

'कल आप चिढ़कर चले गये। सोचती थी, आज शायद ही आवें।'

'चिढ़कर। और मैं? आप भ्रम में हैं पिया देवी। आप ही तो गुस्से में होकर उठ गयीं। बैठा-बैठा जब थक गया तो घर लौटा।'

'आप क्यों अकेले बैठे रहे? क्यों—क्यों मुझे बुला न लिया?'—पिया के अभिमान-भरे ये शब्द निशीथ को मीठे लगे—बहुत मीठे। वह चुप रहा। प्रतिवाद? नहीं, कुछ नहीं, कदाचित् वाद-प्रतिवाद कर उस मीठेपन को वह कदर्य न करना चाहता हो।

अपनी बात में पिया लजा गयी और रूठ गयी निशीथ पर। एक छोटा-सा उत्तर क्या वह व्यक्ति भद्रता के नाते नहीं दे सकता था? पपीहरा का चित्त विद्रोह की घोषणा करने लगा। व्यंग्य ने सहायता की और तब पिया कहने लगी—कृपाकर कल आप बैठे थे, यह खबर मुझे पीछे मिल गयी थी। असीम कृपा, असीम कृपा है आपकी। मैं तो प्रशंसा करूँगी आपकी और आपकी सभ्यता की। जैसा तो आपको सभ्यता का ज्ञान है, वैसी स्मरण-शक्ति भी तीखी है। कौन स्त्री कब क्या बोली, कब रोयी, ऐसी बातों को आप कभी नहीं भूलते।

विमूढ़ निशीथ केवल उसे देखता रह गया। विचार हो आया, यह पुरुष नहीं, नारी है, सुन्दरी है, गुणवती है, साहसी है, सती है। है सब कुछ, परन्तु यह नारी उससे चाहती क्या है? क्या चाहती है यह? क्या, क्या? विचारने लगा निशीथ—केवल विद्रोह? मात्र व्यंग्य? युद्ध-घोषणा? बस, चाहती यह केवल इतना ही है? किन्तु क्यों? इसकी क्या जरूरत पड़ गयी इसे?

देर के बाद जब निशीथ कुछ सहम-सा गया तो बोला—आपने मुझे कोई जरूरी काम के लिए बुलाया था?

'हाँ-हाँ, बुलाया था—बुलाया था। कह जो रही हूँ—मैंने ही बुलाया था। बिना बुलाये आप आये नहीं, सो मैं भी जानती हूँ, आप भी। कहकर क्यों अपने को हलका कर रहे हैं?' दूसरे क्षण पिया को स्मरण हो आया, बुलाने का कारण। और बस, झगड़ा-विवाद का अन्त हो गया। बालिका-सी मचलती अत्यन्त सरलता से उसने निशीथ का हाथ पकड़ा और एक प्रकार खींचती उसे भीतर ले चली—चलो घोषाल, अच्छी खबर सुनाऊँ, इसीसे तो कल से आप लोगों को बुला रही हूँ, किन्तु आप लोग सुनते ही नहीं।

निशीथ की समझ में न आया कि अब वह क्या करे, क्या कहे। पिया उसका हाथ पकड़े हुए थी, उसे संकोच-सा लगने लगा। किन्तु फिर भी उसने कहा कुछ नहीं, चुपचाप चलने लगा।

अपने आनन्द में विभोर पिया बकती चली—काका ने शादी की है। काकी बड़ी अच्छी लड़की है। वह मुझे जरूर चाहेगी। बेचारी गरीब की लड़की है, बाप नहीं है। शादी नहीं हो रही थी। काका ने सब बातें सुनीं, दया आ गयी, शादी कर ली। इसके सिवा उस दरिद्र लड़की के लिए करते क्या? कैसे अच्छे हैं काका! बड़ा उदार मन है और वैसा ही कोमल भी! किसीके दुःख-कष्ट को वह सह नहीं सकते। बड़े अच्छे हैं मेरे काका। वह देवता हैं, ऐसा भी भला कोई कर सकता है, है न निशीथ बाबू? अरे! आप बोलते क्यों नहीं?

उस अन्तिम प्रश्न से निशीथ की तन्द्रा टूट गयी। किन्तु क्या उत्तर देना है, सहसा वह कुछ ठीक न कर पाया।

पिया हटकर खड़ी हो गयी—आप नाराज हैं?

'नहीं, नहीं। ऐसा मत सोचिए।'

'तो आप चुप क्यों हैं?'

'विचार रहा था।'

'विचारते थे? वह कौन-सी बात? कहेंगे नहीं मुझसे?'

इस सरल बालिका-सुलभ प्रश्न से निशीथ संकट में पड़ गया, कहा—वैसा कुछ नहीं है। सोच रहा था सुकान्त बाबू के बारे में।

'काका के बारे में! क्या सोच रहे थे?'

'ऐसी अवस्था में शादी न करते तो अच्छा था।'

'दीदी भी ऐसा कह रही थीं। न-जाने आप लोग क्यों ऐसा कहते हैं। अच्छे और बुरे को लेकर आदमी रहता है। यदि इस विवाह में बुराई है, तो अच्छा भी कुछ है ही; किन्तु आप लोग उस अच्छे को मानना नहीं चाहते। दीदी और आप एक मत के हैं। दीदी कल चली गयीं।'—यमुना के स्मरण से पिया के नेत्र सजल हुए।

इस बार निशीथ का विस्मय सीमा-रेखा को भी लाँघ गया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि हँसने के साथ-ही-साथ रोया भी कैसे जा सकता है?

निशीथ स्थिर निश्चय पर चला गया—हाँ, नारी तो यह है ही, किन्तु उस नारीपन के साथ यह स्त्री और भी कुछ है, पहेली? रहस्य? चाहे जो भी हो, परन्तु है अवश्य। और यदि पहेली है तो वह जटिल पहेली, उसे सुलझाने की चेष्टा करना विडम्बना-मात्र है। इस निश्चय से निशीथ कुछ सन्तुष्ट-सा हो गया।

निशीथ ने पूछा—मेरी बातों से क्या आप दुःखी हो गयीं, पिया देवी?

'नहीं, नहीं। मुझे आप आज ले चलें।'

'कहाँ?'

'वाह, भूल गये? और गाँव किसके साथ जाऊँगी?'

'अच्छी बात है, ले चलूँगा।'

'तो कब?'

'जब आप कहें।'

'जल्दी चलूँगी। यहाँ अच्छा नहीं लगता।'

'चाहे जब कहें। मैं तो तैयार हूँ। आलोक बाबू और रमेश बाबू नहीं आये क्या?'

दुःखी स्वर से पिया बोली—नहीं तो आये।

गत कल की बात को निशीथ जानता था, फिर भी पूछा—क्यों?

'वे ही जानें। शायद अब न आवें।'

'चिन्ता क्या है? बुलवा भेजिए, अभी दौड़ते आयेंगे। यदि कहें तो मैं ही जाकर बुला लाऊँ, और क्षमा आप माँग लेना।'

'इन बातों में स्त्रियों को अप्रस्तुत करना, अपमान करना, क्या कोई बहादुरी की बात है घोषाल?'

किन्तु असन्तुष्ट होने जाकर भी निशीथ हो न सका, और मुँह पर इस स्पष्ट कहनेवाली को अश्रद्धा भी न कर सका। बोला—यदि बुला भेजें तो हानि क्या है? कल जैसा बर्ताव आलोक से किया गया था'—निशीथ चुप हो रहा।

'खराब था, अभद्र था, यही कहना चाहते हैं न? अच्छी बात है, किन्तु उसके लिए आपको चिन्ता की जरूरत नहीं, मैं समझ लूँगी।'

घर लौटकर निशीथ ने स्थिर किया कि वह अब कभी पपीहरा के घर न जायगा, न किसी प्रकार मेल ही रखेगा।

करने को तो इतना निशीथ स्थिर कर गया, किन्तु जब मोटर का हार्न बाहर बजने लगा तो वह बाहर आया। कार पर बैठी पपीहरा उसके चपरासी पर बिगड़ रही थी कि मालिक को बुलाने में वह देर क्यों लगा रहा है।

पपीहरा को देखकर निशीथ जिस परिमाण में विस्मित हुआ उसी परिमाण में शंकित भी हुआ। कौन जाने, शायद अभी-अभी यह लड़की बिना कारण बिगड़कर कोई अनर्थ कर बैठेगी।

उसे देखकर पिया बोली—कैसा खराब चपरासी है आपका, बात नहीं सुनता।

स्मित हास्य से निशीथ ने कहा—यह बहरा है।

'तो क्यों रख लिया ?'

'बड़ा गरीब है, कहीं नौकरी नहीं लग रही थी, मैंने रख लिया।'

'गरीब है ? तो अच्छा किया आपने, बेचारा गरीब।'

'आइए, पिया देवी ! सौभाग्य है जो आज आप घर पर आयीं।'

'तो क्या बैठने आयी हूँ ?'

निशीथ सर खुजलाने लगा। उसकी समझ में न आया कि क्या कहा जाय।

'कैसे भूलते हैं आप। कपड़े भी तो नहीं पहने। जल्दी तैयार हो लो, वरना ट्रेन न मिलेगी।' पपीहरा अधीर हो रही थी।

निशीथ ने किया यह कि थोड़े-से कपड़े किसी प्रकार सूटकेस में भर लिये और कार पर बैठ गया।

[१८]

गाड़ी से किसी तरह उतरने की देर थी कि वन्य-हरिनी की भाँति पपीहरा उछलती, कूदती भागी। पीछे-पीछे निशीथ आ रहा था, उसकी बात पिया भूल गयी।

बच्चों की-सी पिया सुकान्त के कण्ठ से लिपटी। उसके बाद प्रश्नों की झड़ी-सी लगा दी—शादी के वक्त मुझे बुला क्यों न लिया ? चुपके चुपके शादी क्यों कर ली ? तुम ऐसे दुबले क्यों हो गये हो ? काकी कहाँ हैं ? उनका नाम क्या है ? अच्छा काका, मेरे लिए तुम्हारा जी घबराता था ?

उसे आदर कर सुकान्त ने कहा—घबराता था बिटिया।

झूठ बोलते हो काकाजी, यदि घबराता तो बुला न लेते।'

'झूठ बोलती है मेरी पिया बिटिया, मैंने बुलाया, वह आयी नहीं।'

'बुलाया था? ठीक है, ठीक है। उस समय दीदी बीमार थीं। तो तुम क्यों न मेरे पास चले आये?'

बहुत काम पड़ा है पिया, वर्षों के बाद तो गाँव पर आया हूँ।'

निकट खड़ा निशीथ पिता-पुत्री का मिलन बड़े प्रेम से देख रहा था।

सुकान्त की दृष्टि निशीथ पर पड़ी, कहा—अरे! तुम भी आये हो? सौभाग्य, सौभाग्य, बड़ी प्रसन्नता हुई तुम्हारे आने से। तुम्हारे आने की आशा थी नहीं।

'पिया देवी पकड़ लायीं।'

'अच्छा किया पिया ने। वरना तुम कब आते।'

नौकरों को बुलाकर सुकान्त ने निशीथ के स्नान, भोजन की व्यवस्था करने को कह दिया।

पपीहरा ने कहा—काकी को बुलाओ काका।

स्नानादि के लिए निशीथ नौकर के साथ चला गया।

'पहले नहाकर चाय तो पी लो।' सुकान्त मुसकरा रहे थे।

'नहीं। पहले उन्हें बुलाओ।'

कविता आयी। उसे देखकर पपीहरा खिलखिला पड़ी।

'यह तो ज़रा-सी है।'

लज्जित मुख से कविता भाग गयी।

'इस ज़रा-सी को मैं काकी न कह सकूँगी।'

'तो क्या कहोगी पिया?'—सस्नेह सुकान्त ने कहा।

'मैं? तुम कह दो।'

'जो तेरे जी में आवे सो कह।'

'नाम लेकर पुकारूँगी। नहीं, वह खराब लगेगा। तो कविता काकी—नहीं, नहीं, वह भी अच्छा नहीं। फिर मैं उसे कैसे पुकारूँ? मैं, मैं उसे कहूँगी काकू। काकू—काकू। बस, यही ठीक है। कैसा मीठा तुकार है, है न काका? काकू—काकू। अच्छा, अब जाती हूँ।'

'नहीं। पहले नहाकर चाय पी लो। तेरी काकू कहीं भागेगी नहीं।'

'छोड़ो काका, देर हो रही है।'—वह भागी-भागी भीतर गयी, पहले कमरे में कविता मिल गयी।

पपीहरा कुहुक-सी उठी—मुझसे दोस्ती कर ले काकू।

कविता पलकहीन नेत्र से पिया को देखने लगी। यद्यपि पपीहरा रूपसी न थी, किन्तु फिर भी कविता को लगा—इस पिया लड़की का मुँह ऐसी कोई आकर्षिणी शक्ति से ओतप्रोत है जो कि दूसरे के अनजान में उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसे जान पड़ा, यदि वह सुन्दरी नहीं है, तो भी उसके मुँह में देखने को है, बहुत कुछ। यह मुख उस प्रकार का है, जिसे देखने से प्यार करने को जी चाहता है, अपनाने की इच्छा होती है।

'ऐसे विस्मय से क्या देख रही हो काकू?'

'आपको।'

पपीहरा हँसी तो हँसती ही रह गयी।

उस न रुक सकनेवाली हँसी के सामने कविता विमूढ़-सी रह गयी।

देर के बाद हँसी रुकी, तब पपीहरा ने कहा—आप, क्या मैं आप हूँ? तुम कहना। समझी न? तुम कहना, तुम—तुम।

कविता ने सम्मति-सूचक मस्तक हिला दिया।

'तुम बड़ी गम्भीर हो काकू भाई।'

'शर्म लग रही है।'

'और मुझसे? ऐसा नहीं काकू।'—बड़े प्रेम से उसने कविता के गले में बाँह डाल दी।

कुछ ही देर में अल्प-भाषिणी कविता से चंचल स्वभाव की पपीहरा की गहरी मित्रता हो गयी। दोनों बैठी तन्मय होकर बातें करने लगीं।

बाहर से हरमोहिनी का रूखा स्वर सुन पड़ा, 'सुनती है कवि, वही भतीजी छोकड़ी आयी है।' बड़बड़ाती हुई हरमोहिनी कमरे में चली आयी, पपीहरा को देखकर तीखे स्वर से बोली—यह छोकड़ी कौन है?

दूसरे पल असन्तोष-भरा स्वर पिया का सुन पड़ा—यह कौन है काकू?

'माँ!' संकोच से कविता का स्वर रुक-सा गया।

'तुम्हारी माँ!' पिया के कण्ठ का विस्मय उन स्त्रियों से छिपा न रह सका।

ज़रा ठहरकर पपीहरा ने कहा—तूने बातों में मुझे ऐसा लगा लिया कि स्नान करना, घर-मकान देखना सब भूल गयी। अच्छा, मैं जाती हूँ।

'काकी से कोई तू कहकर भी बात करता है ? छिः-छिः ! शहर में रहती हो, लिखी-पढ़ी हो, तो सभ्यता नहीं जानती ?'—बोली हरमोहिनी।

पिया के मुख पर ऐसा कठोर शब्द कहने का साहस आज तक किसीको न हो सका था। किन्तु उत्तप्त होने जाकर भी पपीहरा ने आज सर्वप्रथम अपने को रोकना सीखा। मन में बार-बार कहने लगी—काकू की माँ है, काकू की माँ, मेरी काकू की माँ है।

'यह पपीहरा है, माँ !' कविता ने जल्दी से कहा।

'है तो रही आवे—बड़े आदमी की भतीजी। मैं तो उचित कहने से कभी न चूकूँगी। बड़े का अपमान मैं नहीं सह सकती। मुझे भी तो प्रणाम करती। छिः ! कैसी कुशिक्षा है !'

'चलो पिया, तुम्हें नहाने का कमरा दिखला दें !' दोनों चल पड़ीं। बाथ-रूम दिखलाकर कविता चली आयी। देर के बाद वह लौटी तो पाया, पपीहरा द्वार पकड़े वैसे ही आनत मुख से खड़ी है।

'अब भी खड़ी हो, नहाने नहीं गयी ?'—आश्चर्य से कविता ने पूछा।

'क्या वह सचमुच तेरी माँ है काकू ?'

'माँ ही तो हैं। क्यों, बात क्या है ? अच्छा, अब समझी, उनकी बातों का कुछ खयाल न किया करो पिया, पुराने चाल की हैं न !'

'किन्तु'—पिया चुप हो गयी।

'कहो, कहो !'

'यदि कभी उन्हें तुम-सा प्रेम न कर सकी, यदि—यदि उन्हें मैं चाह न सकी, तो तू नाराज तो न हो जायगी काकू ?'

इस पिया लड़की के कहने की रीति, भाव ऐसा मधुर लगा कविता को कि उसपर क्रोध तो कर ही न सकी, उपरान्त उस सरल व्यवहार से वह और भी आकृष्ट हो गयी।

'ऐसी बातें क्यों विचारती हो पिया ? जो कुछ दे सको वह देना। किसीके सन्तोष-असन्तोष के लिए कोई अपनी आत्मा को कहीं बलिदान कर सकता है ?'

'बात बिलकुल ठीक कह रही हो। तुम मेरी काकू हो न ?'

कविता मुसकराने लगी।

'हँसती हो, जवाब दो न ?

'हूँ तो काकू और तुम हो मेरी पपीहरा।'

'ऊँ-हूँ, नहीं बना—पिया कहो, पपीहरा तो प्यास से चिल्लाती है, मैं कहीं प्यासी हूँ ?'

'नहीं-नहीं, गलती हो गयी—तो पिया।'

'हाँ, सुनो तो काकू।'

'नहीं, अब सुना-सुनी नहीं। कोई बात नहीं। जाओ, स्नान कर लो।'

'एक बात।'

'नहीं, कुछ नहीं, चाय ठण्डी हो रही है।'

'मैं चाय नहीं पीती।'

'झूठी। जाओ, नहा लो।'

इसके बाद उस दुर्दान्त, अबाध्य पिया ने कुछ न कहा। बाध्य शिशु की भाँति स्नान करने चली गयी।

[१६]

दो दिन और दो लम्बी रातें निकल गयीं। परन्तु पपीहरा काकी को लेकर ऐसी व्यस्त रही कि किसीकी सुधि न ले सकी, न निशीथ की और न काका की।

कविता के बालों को न-जाने कितने बार कंघी किया, पाउडर लगाकर, सिन्दूर की बड़ी-सी बिन्दी उसके ललाट में लगाकर पिया ने फिर पोंछा और फिर लगाकर उस मुख को मुग्ध-स्नेह से देखने लगी। कविता लज्जा से सिमट-सी गयी।

'मुझे स्वाँग क्यों बना रही हो, पिया ?'

'स्वाँग ? नहीं, मेरी काकू। गाँव की सभ्यता दूसरी है। किन्तु शहर में इसी तरह तुझे बन-ठनकर रहना पड़ेगा।'

'बाप रे, दिन-रात इसी तरह सज-धजकर ?'

'हाँ। मैं तो तुझे पाठ दे रही हूँ।'

'अच्छा, तो यह पहला पाठ है ?'

'पहला—और दूसरा। लो, साड़ी फिर उसी तरह पहन रखी है?'

'भूल गयी थी पिया। अभी पहनती हूँ। है ठीक?'

'ठीक है। बस, ऐसा ही पहना करो।'

'बड़ी अटपटी-सी लगती है।'

'कुछ नहीं। दो-चार दिन में सब ठीक हो जायगा। मैं अब जा रही हूँ। तेरे लिए घर-मकान कुछ न देख पायी। तू ऐसी पड़ी रहती है।'—पिया द्वार तक जाकर लौटी। काकी को देखा, मुसकरायी, इसके बाद चली गयी।

कमरों से दालानों में होती हुई पपीहरा एक बन्द कमरे के सामने खड़ी हो गयी। थपकियाँ देने लगी दरवाजे पर। जब कोई न बोला तो धीरे से धक्का दिया, द्वार खुल गया। सन्ध्या के धूमिल प्रकाश में पृथ्वी ढँक चुकी थी। कमरे में था प्रदीप का मन्द प्रकाश और दीप धूप-धूना की मीठी सुगन्ध, छोटा-सा शिवलिंग एवं लिंग के सामने मृगछाला पर आसीन, ध्यान-मग्न स्तब्ध निशीथ—समाधिस्थ-सा।

दीप-धूप की गन्ध पपीहरा को बहुत अच्छी लगने लगी। सेण्ट, पाउडर के उत्तेजक गन्ध से वह परिचित थी, किन्तु अगर, चन्दन की सुवास से नहीं। इस गन्ध से परिचय के प्रथम मुहूर्त में वह हो रही—विमूढ़-सी। उसे लगा—उस घर की वायु में अनेक भक्ति, अनेक निष्ठा, अनेक विश्वास, अनेक पवित्रता और मीठी खुशी मँडरा-सी रही है। और उसे आलिंगन करने के लिए चहुँओर से बाँह फैलाकर दौड़ी आ रही है। पिया ने आँखें खोलकर अच्छी तरह से देखा—शुभ्र यज्ञोपवीत निशीथ की खुली देह पर पड़ा हुआ था, सादा रेशमी वस्त्र पहने, निमीलित नेत्र से वह ध्यान में मग्न था।

पपीहरा के नेत्र परिहास, व्यंग्य से मचल-से पड़े। जोर से हँसने को उसका जी चाहने लगा और उस आसीन पुरुष को परिहास से विद्ध करने के लिए हृदय व्याकुल होने लगा। परन्तु अधिक आश्चर्य तो इस बात पर है कि वह यह सब कुछ न कर पायी। केवल इतना ही नहीं, वरन् धीरे-धीरे उन आयत नेत्रों की दृष्टि से परिहास की छाया हट गयी और उसका स्थान अधिकार कर लिया—सम्मान और विस्मय ने। आच्छन्न-सी खड़ी पिया उस प्रियदर्शन, ध्यानस्थ पुजारी को देखती रह गयी।

उसके गले का फूल का गजरा, माथे के चन्दन-तिलक ने पपीहरा की दृष्टि में सौन्दर्य की नदी-सी बहा दी। विस्मय, पुलक से एक बार वह रोमांचित हो गयी और फिर उसकी दृष्टि उस शुभ्र उपवीत में समा-सी गयी, बोध, चेतना जाती रही। ऐसा लगने लगा कि उस उपवीत से किसी एक दिन महायज्ञ का धूम, कुडलाकार-सा निकलता चला आ रहा है और अग्नि स्फुलिंगों में परिवर्तन होकर साधक के चहुँओर विकीर्ण हो रहा है।

विस्मय—विस्मय! जीवन की प्रभात-वेला में पपीहरा ने पाया विस्मय—विस्मय! ऐसा विस्मय, रन्ध्रहीन, छिद्रहीन, वह ऐसा विस्मय कि जिस विस्मय की बाँह पकड़े वह खड़ी रह गयी—विमूढ़-सी।

पुजारी ने आँखें खोलीं, तो पाया—एक आत्म-विस्मृत तरुणी को और ठीक अपने सामने, देव के वरदान-जैसी, होम की शिखा-जैसी, समुद्र-मन्थन की सुधा-जैसी। थी वह निरवाद खड़ी, बिलकुल सामने।

अपने साधक की झोली में देवता ने अपना श्रेष्ठ वरदान डाल दिया था, फिर वह वहाँ से हटती कैसे?

साधक की आँखें सुधा के कलश में गड़ सी गयीं और सुधा ओतप्रोत हो रही उस साधक में समय बीतने लगा। विस्मय-पुलक से एक दूसरे को देखते रह गये।

धृत दीप इस कौतुक को देखकर खिलखिला पड़ा और फिर आँखें बन्द कर लीं।

गृह में अन्धकार हो गया—सूचिभेद्य अन्धकार। उस अन्धकार की गोद में निशीथ की चेतना लौटी। अपने शिथिल अंगों में स्फूर्ति लाने की चेष्टा की और हँसा—कैसा यह पागलपन है पिया देवी। कबसे यहाँ खड़ी हो? अच्छा, मैं समझ गया। यहाँ खड़ी-खड़ी व्यंग्य-परिहास की चीजों को इकट्ठी कर रही थीं। जरूर कर रही थीं। है न बात ठीक?

हँस-हँसकर कहने को तो इतना निशीथ कह गया, किन्तु दूसरे पल उसे विस्मय से स्तब्ध रह जाना पड़ा। पिया के द्रुत पलायन में और चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु निशीथ के विस्मय-प्रपनोदन की वस्तु उसमें थी नहीं।

एकान्त में हरमोहिनी कविता से बोलीं—सच कहने से बुरा लगता है। किन्तु कहे बिना रहा भी तो नहीं जाता। तुम तो उस घुड़-सवार लड़की के लिए

बावली हो रही हो। इधर घर-गृहस्थी बही जा रही है, अपना आदमी पराया होने जा रहा है। न कुछ देखना, न सुनना! बस, पिया और पिया। पीछे पछताना पड़ेगा, सो मैं कहे देती हूँ।

'घर की लड़की है, माँ!'

'तेरा सिर।'

'बड़ी अच्छी है।'

'अच्छी है! मैं जानती हूँ कि कैसी अच्छी है। उसे ऐसा सिर मत चढ़ा, कवि। वह जैसी तो घमण्डिन है वैसी ही बदचलन भी। उसे देखकर मुझे तो आग-सी लगती है।'

'छिः, माँ।'—बस बोली कविता इतना। और वाद-प्रतिवाद की प्रतीक्षा न कर वहाँ से चल दी।

अपना सिर पीटकर माता रह गयी।

द्विप्रहर में सुकान्त आराम कर रहे थे। जंगली हवा के झोंके-जैसी घर में आकर घुसी पपीहरा। उन्मादी नेत्रों से देखती हुई पूछने लगी—क्या मैं विधवा हूँ काका? कहो, जल्दी कहो।

हतवाक् सुकान्त उसका मुँह निहारने लगे। उत्तर? किन्तु उत्तर देते क्या? और कदाचित् प्रश्न उनकी समझ में न भी आया हो।

'कहो, मैं सुनना चाहती हूँ। झूठ नहीं, सच कहो काका। यदि तुम झूठ बोले, तो मैं पानी में डूब मरूँगी। उस तालाब में।'

इस बार सुकान्त जैसे नींद से जागे, साहस कर बोले—नहीं।

'नहीं? सच कहते हो?'

'सच कहता हूँ। तुझे आज हो क्या गया है? मेरे पास बैठ जाओ, बात क्या है!'

'कुछ नहीं। तुम कहो—मैं विधवा हूँ या नहीं!'

'कह तो रहा हूँ—नहीं, नहीं। भैया ने तेरी शादी तय कर ली थी, जब तू सात वर्ष की थी। यहाँ तक कि बारात भी दरवाजे पर आ चुकी थी।

'सात वर्ष में विवाह!'—पिया खिलखिलाकर हँसी।

'ठीक सात वर्ष की तब तू थी। मैं अपने काम पर था, तब दूसरे शहर में मैं था।'

'फिर क्या हुआ?'—उसने अधीर-आग्रह से पूछा।

'मुझे पता चल गया था। और ठीक उसी समय घर पहुँचा जबकि निमन्त्रित जन से घर भरा हुआ था और बरात दरवाजे पर लगी थी।'

'तो शादी हो गयी?'—पूछा पिया ने।

'मेरे जीते-जी सात वर्ष की पिया का ब्याह हो ही कैसे सकता था! तुझे लेकर मैं ऐसा भागा कि किसीको कानोंकान पता तक न चल पाया। भैया बहुत गुस्सा हुए। भाभी ने अपना सिर पीट लिया। यह हुआ सब कुछ। परन्तु मैं तुझे अपनी गोद में छिपाकर बैठा ही रह गया।'

पपीहरा तालियाँ बजा-बजाकर हँसने लगी—बड़े मजे की बात है।

सुकान्त हँसने लगे।

'तुमने अभी तक मुझसे कहा क्यों न था?'

'बात ऐसी कौन-सी थी जो तुझसे कहता। परन्तु तुझसे यह सब कहा किसने?'

'बुढ़िया ने। वह खराब है काका।'

'कौन, बिटिया?'

'काकू की माँ। उन्हें मैं अम्माँजी न कह सकूँगी, काका! वह कहती है, पिया बदचलन है। घोड़े पर चढ़ती है, साबुन-पाउडर लगाती है। मेरी ओर गुर्राकर देखता है बुढ़िया। और भी जाने क्या-क्या कहती है।'

जमींदार के नेत्र अङ्गार-से जलने लगे। भृत्य को आज्ञा दी—बहूरानी को बुला ला।

सिर ढाँके कविता आकर खड़ी हो गयी।

'अपनी माँ से कह दो, पिया इस घर की सब कुछ है। मालिक न मैं हूँ, न तुम। उनसे कह दो, यदि सोच-समझकर न चल सकें, तो इस घर में उनकी जगह न होगी। इस बात को कभी न भूलना कि मैंने अपने लिए नहीं, वरन् पिया के लिए तुमसे शादी की है। वह अकेली रहती थी, उसे साथिन की जरूरत थी। मैं तो सोच भी नहीं पाता कि पिया-जैसी लड़की पर कोई ईर्ष्या कर सकता

है। समझीं ? वह तुम लोगों की ईर्ष्या की पात्री नहीं है। वह इस घर की मालकिन है।'

कविता का मुख अपमान से काला पड़ गया। कहा उसने कुछ नहीं। जैसी आयी थी, वैसी ही लौट गयी। आर्त स्वर से पिया चिल्लायी—काका, तुमने यह क्या किया ? काकू बेचारी का क्या अपराध है ? वह मुझे बहुत चाहती हैं, तुमसे भी ज्यादा। न-जाने अब वह मुझे क्षमा करें या नहीं ? यदि बुढ़िया कुछ कहे, तो वह क्या कर सकती हैं ?

'माँ-बेटी दोनों एक हैं।'

'नहीं-नहीं ; ऐसा नहीं, तुम भ्रम में हो।'

'तू नहीं जानती बिटिया, यह भी तुमसे ईर्ष्या करती है। दोनों को निकालना है।'

पपीहरा ने अपने हाथों से सुकान्त का मुँह ढाँक लिया—चुप रहो काका, क्या कहते हो ? उनके साथ मैं चली जाऊँगी। काकू के बिना मैं नहीं रह सकती।

बाहर बैठा निशीथ अखबार पढ़ता जाता था और बातें सुनता जाता था।

'मैं भीतर आ सकता हूँ, पिया देवी ?'—निशीथ ने पूछा।

'आइए न।'

निशीथ भीतर आया। उस दिन की बात पिया को स्मरण हो आयी और उसका मन लज्जा से जरा नत-सा हो गया। पहले-पहल पुरुष के सामने उसे कुछ लज्जा-सी लगी।

'यहाँ आने से आप ऐसी दुर्लभ हो जायँगी, यदि पहले इस बात को जान पाता तो शायद ही यहाँ आता, पिया देवी।'

जमींदार ने कहा—ठीक कह रहे हो निशीथ! यहाँ पहुँचकर पिया अपनी काकू को लेकर ऐसी उन्मत्त हो रही है कि मेरी सुधि नहीं लेती, साथ ही अतिथि को भी भूली है।

'आपको कोई असुविधा तो नहीं हो रही है, निशीथ बाबू ?' लजीली हँसी से उसके नेत्र झुक रहे थे।

'हो ही रही हो, फिर पूछनेवाला कौन है ?'—उत्तर में निशीथ ने कहा।

'पूछ जो रही हूँ।'

'तो मैं भी कहने को तैयार हूँ। पहली असुविधा, बोलने के लिए कोई मिलता नहीं। दूसरी—घूमने का साथी कोई नहीं है।'

'बस-बस, कह चुके। निशीथ, मेरा भी यही अनुयोग है पिया से।'

'कैसे नटखट हो, काका तुम? काम से फुरसत नहीं मिलती सो न कहेंगे, उल्टे दूसरे के मत्थे कसूर मढ़ना—और मढ़ना। और आपको निशीथ बाबू? पूजा से तो फुरसत नहीं, फिर बातें कब करते?'—पूजा शब्द पिया के गले में मुरझा-सा गया।

एक की आँखें अपने-आप दूसरे की ओर उठ गयीं और उस मिलित दृष्टि के सामने दुनिया का रंग बदलकर अबीर के स्तूप में परिवर्तित हो गया।

पपीहरा भागना चाहने लगी। चाहे वह उसकी पराजय हो या विजय। परन्तु वह भागना चाह रही थी; पिया—पपीहरा भागना चाह रही थी। भागना, भागना।

'कल मैं जा रहा हूँ?'—निशीथ ने कहा।

'कहाँ?'—पूछा सुकान्त ने।

'घर।'

'कल सप्तमी है। यदि आये हो तो गाँव को दुर्गा-पूजा देख लो, विशेषतः तुम भक्त आदमी ठहरे।'

'मैं जाना नहीं चाहता था, किन्तु इस तरह गूँगे-सा होकर यदि और एक दिन भी रहना पड़े सुकान्त बाबू! मैं सच कह रहा हूँ, तो पागल हो जाऊँगा।'

पपीहरा की ओर देखकर सुकान्त मुसकराने लगे। पपीहरा जोर से हँसी।

अन्त में तय हुआ कि प्रातः-संध्या पपीहरा उन दोनों के साथ रहेगी।

पिया उठकर निशीथ के साथ घूमने के लिए चली गयी।

[२०]

शरद-सप्तमी के प्रातःकाल शहनाई के मधुर स्वर से पपीहरा की नींद खुली। उस स्वर से उसका मन आनन्द-आतुर होने लगा। अपने भीतर वह उस आनन्द को छिपाकर न रख सकी, साथी की जरूरत पड़ गयी। पपीहरा चल पड़ी कविता की खोज में। खोजती-ढूँढ़ती इस बार जिससे उसकी भेंट हो गयी, पिया को लगा उस-जैसा रूप उसने इस सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था में कभी देखा नहीं।

कदाचित् स्वर्ग की अप्सरा हो, उसने सोचा और पूछने लगी—तुम कौन हो ? यहाँ कैसे आ गयीं ? कहाँ से आयीं, कब आयीं ? ऐसा रूप तुम्हें किसने दे दिया ?

रूप, वही रूप की प्रशंसा, नीलिमा कमल-सी खिल गयी—मैं कविता की दीदी नीलिमा हूँ ?'

'नहीं-नहीं, तुम स्वर्ग की विद्याधरी हो। कहाँ से चुरा लायीं अपना रूप ?'

नीलिमा हँसी। 'कविता की बहन नीलिमा हूँ।'—उसने फिर कहा।

'काकू की बहन और इतनी सुन्दर ? अबतक तुम मेरे सामने क्यों न आयी थीं ?

'किसीने मुझे बुलाया नहीं।'

'ठीक है, मैं नहीं जानती थी तुमको। काकू की बड़ी बहन हो ?'

'हाँ। वह मुझसे छोटी है।'

'तो तुम मेरी कौन लगीं—काकी ?'

'नहीं।'

'नहीं कैसे ?'—पपीहरा ने उसका हाथ पकड़ लिया और विज्ञभाव से कहने लगी—तुम कुछ नहीं जानतीं, काकू की बहन को काकी कहना पड़ता है। हाँ, तो काकी, तुम बिना किनारी की साड़ी क्यों पहनती हो ? हाथ में चूड़ी क्यों नहीं हैं ? चलो मेरे साथ। मेरे बहुत गहने हैं, पहना दूँगी—पपीहरा उसे खींचती ले चली।

बात हरमोहिनी के कानों तक चली गयी।

वह बाज-जैसी झपटी आयी—गरीब के घर की विधवा है यह। ऐसा अनाचार हम दरिद्रों को नहीं सोहता। उसे यों ही रहने दो।

हाथ छोड़कर पिया एक ओर खड़ी हो गयी। इस स्त्री से उत्तर-प्रत्युत्तर करते उसका मन खिन्न होने लगा था। पौरुष-पूर्ण कंठ से हरमोहिनी ने पुकारा—चली आओ, नीलिमा !

नीलिमा ने कृतज्ञ नेत्र से पिया को देखा—फिर चल पड़ी।

'लौट-लौटकर देखती क्या है रे, नीली ? तू गृहस्थ की लड़की है, गृहस्थ-सी रह, शहर की हवा हमें नहीं सहने की। और मैं कहती हूँ—हम गरीबों को लेकर

व्यंग्य, परिहास करने का किसीको क्या प्रयोजन ?'—हरमोहिनी चलते-चलते बोली।

क्रोध से पपीहरा विकल हो गयी। नौकर को पुकारकर कहा—काका को बुला लाओ, अभी जाओ।

उसी पल में कविता ने आकर उसका हाथ पकड़ लिया—छिः पिया! हर बातों में चिढ़ना कहीं अच्छा होता है?

पपीहरा चुप रही। उसे काका की रूढ़ बातों का स्मरण हो आया। कुंठित लज्जा से बोली—मुझे क्षमा करो, काकू!

'ऐसा क्यों, पपीहरा ?'

'हाँ-हाँ, कर दो न क्षमा।'

'अरे, तो बिना कारण ही ?'

'तुम मुझपर नाराज हो काकू ?'

'तुमपर !'

कविता के इस कहने के ढंग से पिया को लगा कि ऐसी असम्भव बात दुनिया में हो ही नहीं सकती, हो ही नहीं सकती। कविता मानो कहना चाह रही है—तुमपर नाराज, और मैं ? क्या ऐसा भी कभी हो सकता है ?

रात्रि के प्रथम प्रहर में देवी की पूजा आरम्भ हो गयी। उच्च स्वर से पुजारी वेद-मंत्र पढ़ने लगे।

काँसे के घण्टे के गम्भीर निनाद से ग्राम मुखरित होने लगा। अगर, चन्दन, फूल, बेलपत्र से देवी ढक सी गयीं। सहस्र दीपों के उज्ज्वलतर प्रकाश में सृष्टि, स्थिति, संहार को द्वादश भुजाओं में समेटे हुए देवी मानो सवाक् हो उठीं और उनका वाहन केशरी प्राणमय हो गया, पद-प्रान्त में पड़े शिव मुसकरा-से पड़े।

भक्ति-स्थिर नेत्र से निशीथ उन्हें देखने लगा। सामने, चेयर पर काका के साथ बैठी पपीहरा को यह दृश्य बड़ा अच्छा लगा। उन द्वादश भुजाओं के सामने उसकी परिहास-स्पृहा मर मिटी। उन नेत्रों में यदि भक्ति नहीं थी, तो व्यंग्य-परिहास भी नहीं था। व्यंग्य-परिहास नहीं, किन्तु उन आँखों में कुछ था। क्या? कौन जाने, कदाचित् नूतनत्व की स्पृहा हो या सम्भ्रम हो। देवी-पूजा वह प्रथम बार देख रही थी न।

पपीहरा की दृष्टि में पृथ्वी आनन्दमयी-सी लगने लगी। उसे लगा - देवी के नेत्र से जैसे कल्याण, स्नेह टपक पड़ रहा है। खुशी-खुशी, चहुँओर खुशी। उसे बड़ा अच्छा लगने लगा। किन्तु उसकी खुशी स्थायी न हो पायी। जब बलिदान के लिए पशु पर खड्ग उठा, तो वह तिलमिला उठी। घृणा से उसने आँखें फेर लीं। छिः-छिः! यह क्या है? उसके जी में आया—इस मंगल मेला में ईर्ष्या कैसी? वरदान की शुभ वेला में यह हत्या कैसी? कल्याण की वेला यह अकल्याण कैसा? अरे कैसी, कैसी यह ईर्ष्या, यह नृशंसता कैसी?—जिज्ञासा से उसका मन व्याकुल होने लगा।

पिया को ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रत्येक दर्शक के नेत्र ईर्ष्या से दीप्त हो रहे हैं। और प्रदीपों की रक्त-छटा भी गहरी ईर्ष्या से तीव्र हो रही है। ईर्ष्या?—हाँ, उस मूक, छोटे-से प्राणी को रक्त पिपासा की ईर्ष्या।

खड्ग उठा और द्विखण्डित होकर पशु-मुण्ड दूर गिरकर तड़पने लगा। रक्त बह निकला।

पपीहरा ने फिर एक बार देवी की ओर देखा, पायी उसने वही पिपासा। देखा उसने, रक्त-पिपासा से देवी के नेत्र विस्फारित हो रहे हैं और निशीथ के नेत्र पिपासा से स्तिमित-से।

पिपासा-पिपासा, पिया स्थिर निश्चय पर चली गयी—यह पिपासा अवश्य रक्त की है, मूक, छोटे बच्चे के खून की तृषा।

दूसरे पशु पर फिर खड्ग उठा और साथ-ही-साथ पिया चीख पड़ी—काका, काका, इस निरपराध, कापुरुषोचित हत्या को रोक दो।

निशीथ मुसकराता उसके निकट आ गया, पूछा—यह ममत्व कौन जातीय है, पिया देवी?

विमूढ़ विस्मय से पिया ने कहा—कौन जातीय? आप कहना क्या चाहते हैं?

'केवल इतना'—कहने लगा निशीथ हँस-हँसकर—'मांस खाते समय ऐसी ममता कहाँ रहती है आपकी? तो ऐसा कहिए, वह मांस सभ्य रीति से टेबिल पर आ जाया करता है, और ममता के स्थान पर वहाँ लोभ बलवान रहता है। बात यही है न पिया देवी?'

तबतक खड्ग से दूसरे पशु का सर द्विखण्डित हो गया। पिया उठी और

चुपचाप भागी। पिया भाग चली, भाग चली। उसे लगा चहुँओर से नर-राक्षस बाँह फैलाये खड़े हैं और बीच में खड़ी है वह। वह राक्षसी है? नहीं-नहीं, राक्षसी कैसी। वह तो माता की जाति है न? स्नेहमयी, प्रेममयी, कल्याणी माँ।

माँ की जातीय माँ जो है वह। सन्तान का रक्त क्या वह पान कर सकती है? किन्तु—किन्तु—उसे लगा—किन्तु। पपीहरा ने अपने अन्तर की ओर देखा—अरे यह नग्न राक्षसी! उसी स्नेहमयी माँ के हृदय के भीतर यह बूढ़ी राक्षसी कब से बैठी है! पिया भागी।

परन्तु भागकर वह जाती कहाँ? वह बूढ़ी राक्षसी, जिसने न-जाने कितने ही जीवों का रक्त चूसा होगा, वही बूढ़ी राक्षसी जो साथ थी उसके।

भोजन के टेबिल पर सब बैठे थे। पिया ने मांस पर से हाथ खींच लिया।

'खाइए न।'—निशीथ ने कहा।

'मांस न खाऊँगी।'—पिया ने उत्तर दिया।

'कबतक के लिए, पिया देवी!'—निशीथ के व्यंग्य से पिया तिलमिलायी, कुछ कहने के लिए वह हुई। दृष्टि पड़ी निशीथ के मुँह पर, वह स्तब्ध रह गयी—वह पूजा-रत-साधक की स्निग्ध मूर्ति कहाँ है? यह तो जीवन्त राक्षस है, जिसके नेत्र ईर्ष्या से दीप्त हो रहे हैं। घृणा से पिया ने आँखें फेर लीं।

बना हुआ मांस लेकर हरमोहिनी पहुँचीं—प्रसाद लो लो, थोड़ा-थोड़ा।

निशीथ ने आग्रह से लिया और बड़ी तृप्ति से भोजन करने लगा। पिया उठकर खड़ी हो गयी।

'क्यों, क्या बात है बेटी?'—जमींदार ने पूछा।

'मांस न खाऊँगी।'

'मांस कहाँ, यह तो प्रसाद है।'—हरमोहिनी बोलीं।

'बकरे का है न, यदि मुर्गी होती तो शायद पिया देवी ले लेतीं।'—निशीथ हँस रहा था।

'मेरे हिस्से का आप ही ले लीजिए निशीथ बाबू, यह मांस स्वादिष्ट ज्यादा होगा। क्योंकि एक तो मांस प्रसाद हो गया है, दूसरे, यह समारोह की हत्या है। रावण नाम का राक्षस यदि यहाँ उपस्थित रहता, तो मैं निश्चय के साथ कह

सकती हूँ कि वह भी इस समारोह के वध की प्रशंसा किये बिना न रहता।'—सबको विस्मित चकित कर पपीहरा कमरे से निकल गयी।

लज्जा, अपमान से निशीथ का चेहरा काला पड़ गया था। जमींदार स्नेह से द्वार की ओर देखने लगे, बोले—कैसा कोमल मन है!

और हरमोहिनी मन में झुँझलाने लगीं—इस लड़की की सभी बातें निराली हैं।

[२१]

नदी में स्नान कर और भीगे कपड़े में रहकर पपीहरा बीमार पड़ गयी। मारे ज्वर के उसकी सुधि जाती रही। वैद्य, डाक्टरों से सुकान्त ने घर भर दिया।

आहार-निद्रा त्यागकर कविता उसके सिरहाने बैठ गयी और एकनिष्ठ साधक-जैसा निशीथ उसकी सेवा में लगा। तो लम्बे-लम्बे चौबीस घण्टे निकल जाने लगे; किन्तु उसने रोगिणी के पास से हटने का नाम न लिया।

जमींदार सेवा नहीं कर सकते थे तो क्या हुआ, स्वयं अधीर होना और घर के सबको व्यस्त करना तो भली-भाँति जानते थे न। उन्हें निशीथ रात में रोगिणी के पास रहने नहीं देता था, इतना सौभाग्य समझो, वरना उनकी उपस्थिति से रोग बढ़ जाता।

इन सब बातों को देख-सुनकर हरमोहिनी निर्वाक् रह गयीं। जब असह्य हुआ तो कविता से बोलीं—उस लड़की के पीछे भूख-प्यास त्यागे बैठी हो, अन्त तक क्या प्राण तजोगी?

'घर में बीमारी रहने से कुछ अनियम होता ही है। तुम निश्चिन्त रहो माँ, मुझे कुछ न होगा।'—नरम स्वर से कविता ने कहा।

'मैं पूछती हूँ, कोई मरे या जिये; तुझे क्या?'

कविता चुपचाप चली गयी।

बकती-झकती हरमोहिनी काम में लग गयी।

किन्तु रात में वह फिर भी रोगिणी के द्वार पर खड़ी हो गयीं। देखा, पपीहरा के सिर पर 'आइस-बैग' धरे कविता ऊँघ रही है और निकट में, आराम-कुर्सी पर पड़ा निशीथ किताब पढ़ रहा है। एक-दो-तीन मिनट चुपके से निकल गये। उसके बाद उनका कर्कश स्वर उस मृत्यु-छाया-मलिन कमरे में वज्राघात-सा रुद्र

हो गया। कविता की तन्द्रा टूट गयी। निशीथ की किताब जमीन पर गिर पड़ी।

सचेत होकर उन दोनों ने सुना—अपनी सेवा कौन करे, उसका ठिकाना नहीं; वह गयी है दूसरे की सेवा करने। मेरी कमजोर लड़की, वह सेवा करना क्या जाने। और फिर न्युमोनिया-जैसे रोग की सेवा, भला वह कर भी सकती है! फिर छूत की बीमारी। इस घर में सब अन्धेर है। बड़े आदमी हैं तो अपने घर के हैं। मैं अपनी लड़की को मार नहीं डाल सकती। चलो आओ कविता।

कठिन मुख से कविता ने कहा—यहाँ से उठ नहीं सकती। धीरे बात करो, माँ। मुश्किल से सोयी है। अभी उसकी नींद खुल जायगी।

'नींद खुले, चाहे न खुले; हमें करना क्या है? जिसकी लड़की है वह समझे। तुझे क्या? मैंने इसलिए लड़की नहीं ब्याही कि वह हरएक की सेवा-खुशामद करती फिरे। पैसा है, नर्स क्यों नहीं रख लेते?'

'तुम सो रहो जाकर माँ।'

'तुझे लेकर ही जाऊँगी, देखें, मुझे कौन रोकता है?'

'मैं अभी नहीं जा सकूँगी।'

'नहीं जा सकेगी!—किन्तु क्यों?'

'कल कह दूँगी, अभी जाओ।'

'तू चल।'

'नहीं।'

हरमोहिनी लड़की को पहचानती थीं, इसके बाद वह भुनभुनाती हुई लौट गयीं।

पपीहरा की नींद खुली। निशीथ ने चमचे से दवा पिलायी और अपने कपड़े से धीरे-धीरे उसका मुँह पोंछ दिया।

कविता को 'थर्मामीटर' देकर निशीथ बोला—लगा दीजिए, ज्यादा बुखार मालूम पड़ रहा है।

पिया आँखें खोले अवश्य थी, किन्तु उन आँखों की दृष्टि बोध हीन-जैसी थी। कभी इधर देखती, कभी उधर। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि निशीथ के मुँह पर गड़-सी गयी। वह मुसकराने लगी। गुनगुनाकर बोली—तुम—तुम, तुम्हीं हो मेरे देवता?

निशीथ उसके निकट बैठ गया, सिर पर हाथ फेरने लगा, धीरे से बोला—कविता देवी, बरफ बदल दीजिए, बैग का बरफ गल गया है। टेम्परेचर अभी कितना है? एक सौ पाँच? मैं भी ऐसा अनुमान कर रहा था। ठहरिए, हाँ, धीरे से बैग रख दीजिए।

पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर वैसी ही निबद्ध रही, बोली, बड़े मीठे स्वर से वह कहने लगी—किन्तु तुम्हें तो मैं घृणा न कर सकी घोषाल, नहीं कर सकी, नहीं कर सकी। चाहती थी, दूसरे मर्दों जैसा तुम्हें भी घृणा करूँ, रन्ध्र-हीन घृणा, छिद्रहीन घृणा। कुछ न हो पाया। मैं तो तुमसे दूर ही रहना चाहती थी, घोषाल—पिया चुप हो गयी। परिश्रम की क्लान्ति उसकी आँखों पर छा-सी गयी। आँखें झँप आयीं और निशीथ वैसे ही आदर-स्नेह से उसके सर पर हाथ फेरने लगा। न निषेध किया और न उसे बाधा दी। बैठा रहा वह चुप—समाधिस्थ-सा।

कविता के विस्फारित नेत्र क्रमशः सजल हुए।

पिया ने फिर आँखें खोलीं। अपने प्रिय के स्पर्श से कदाचित् उसके अन्तर की प्रेममयी, प्रेयसी नारी नग्न होकर बाहर निकल आयी हो या केवल प्रलाप हो, अस्वस्थ मस्तिष्क की कल्पना हो, चाहे कुछ हो, वह कहने लगी—सुनते हो घोषाल, कैसे मजे की बात है? शायद यह परिहास हो, हृदय का विद्रोह हो, किन्तु इससे बड़ा सत्य तो मेरे जीवन में दूसरा है नहीं, चाहती हूँ तुम्हें। पहेली नहीं तो क्या है! मेरा बाहरी आवरण तुम्हें घृणा करता है—हाँ, अब भी घृणा करता है, तुम्हारी रुचि, संस्कार नियमों को देख-देखकर घृणा से संकुचित होता है, किन्तु मेरे मन का जो प्राण है, वह तुम्हें चाह कर, प्रेम-प्यार से, भक्ति-श्रद्धा से पूजा कर, ठीक उसी परिमाण से चरितार्थ होता रहता है। यह रहस्य नहीं तो क्या है? शायद इसे ही प्रेम कहते हों। दूर हटना चाहती हूँ, किन्तु न-जाने वह कौन-सी एक शक्ति है, जो तुमसे निकलती रहती है और मुझे अपनी ओर खींचती है। मैं खिंचना तो नहीं चाहती, प्रियतम! मैं चाहती हूँ—चाहती हूँ, पिया होकर रहना, दुनिया पर हुकूमत करना चाहती हूँ। अपनी सत्ता को खोना, भूलना नहीं चाहती। सुनते हो? घृणा—घृणा करना चाहती हूँ। बचा लो मुझे। मुझे अपनी ही होकर रहने दो—अपने-आपकी होकर, सुन रहे हो न तुम?

परम आदर से बोला निशीथ—सुन तो रहा हूँ, सब कुछ। अब जरा-सा सो जाओगी न ?

'सो जाऊँ ?'

'जरा-सा सो जाओ।'

'और तुम ?'

'कहाँ जाऊँगा मैं ? यहीं बैठा रहूँगा।'

'रात-भर ?'

'हाँ, रात-भर और दिन-भर।'

'मैं नहीं सोती।'—वह जोर-जोर से सिर हिलाने लगी—मुझे नींद नहीं आती। यह सब मुझे गड़ रहा है, मैं भाग जाऊँगी, नदी में नहाऊँगी ; ठण्डे पानी में।

एक बार निशीथ ने शायद इतस्ततः किया-न-किया, फिर धीरे से उसके तकिये से हटे हुए सर को अपनी गोद में रख लिया और पिया आराम से सो रही।

न रुकनेवाले आँसुओं को रोकती हुई कविता बाहर चली गयी।

पन्द्रह दिन के बाद पपीहरा स्वस्थ हुई। ज्वर हटा, अब रही मात्र दुर्बलता। तकिये के सहारे वह चुप बैठी थी।

खुली खिड़की के सामने नीम पर बैठा काग चिल्ला रहा था। अनमन-सी पपीहरा जाने क्या-क्या विचार रही थी। बीमारी की बातें, कविता और निशीथ की सेवा, और जाने क्या-क्या। अस्पष्ट-सा कुछ स्मरण होता, किन्तु फिर न-जाने क्यों एक गहरी लज्जा से उसका शरीर, मन आच्छन्न-सा हो जाता था। हजार सिर पीटने पर भी उस लज्जा का कारण उसकी समझ में नहीं आ रहा था। कुछ थोड़े-से टूटे-फूटे शब्द, कुछ अपने, कुछ दूसरे के उसके मन में भीड़ लगा रहे थे और कुछ आँसू की बूँदें। बस। द्वार के बाहर आहट हुई। बाहर से निशीथ ने पूछा—आ सकता हूँ ?

जब उत्तर न मिला तो वह भीतर आ गया—रो रही हो ?—निशीथ पिया के निकट बैठ गया, पूछा—यह आँसू कैसे ?

हाथ के उल्टे तरफ पिया ने जल्दी से आँसू पोंछ लिये, निशीथ का आना वह नहीं जान सकी थी।

'रोती क्यों हो पिया ?'

पिया मलिन हँसी—रोती कहाँ हूँ ?

निशीथ चुप रहा, कुछ ठहरकर बोला—आज मैं जा रहा हूँ।

संयत स्वर से पिया ने पूछा—किस वक़्त ?

'दो बजे की ट्रेन से।'

निशीथ संकट में पड़ गया ; जिस बात को वह कहना चाहता था—उसको कहते उसका जी जाने कैसा करने लगा। शब्द कंठ के भीतर मूर्च्छातुर होने लगे।

देर तक वे दोनों चुप बैठे रहे।

रुक-रुककर निशीथ ने कहा—जल्दी जाना पड़ रहा है पिया, मेरी पत्नी आसन्न-प्रसवा है। कोई डेढ़-दो वर्ष से वह मायके में है, बच्चे भी वहीं हैं। दो बड़ी लड़कियाँ पढ़ती हैं।—वह चुप रहा, फिर बड़ी कठिनाई से बोला—शायद तुम जानती न थी। मैं विवाहित हूँ। जानती भी किस तरह ? इन बातों का अवसर भी तो नहीं आया।

'जानती थी'—वह सहज स्वर से कहने लगी—उस दिन धोबी के कपड़े रखते वक़्त आपके ट्रंक में आपकी पत्नी का चित्र मैंने देखा था न ?

असहनीय विस्मय से निशीथ चुप हो रहा। बस, इसके बाद दोनों चुप रहे और उसी नीरवता के भीतर विदा की छोटी-सी वेला—निविड़ गाम्भीर्य से भरी थमथमाती रह गयी—रह गयी।

निशीथ को गये सप्ताह निकल गया। पपीहरा काका से बोली—यहाँ पर बिलकुल अच्छा नहीं लगता, घर चलो काका।

'जरा और चार दिन ठहर जा बेटी !'—डरते-डरते सुकान्त ने कहा। किन्तु उनके विस्मय का ठिकाना न रहा, जबकि अनायास पिया का छोटा-सा उत्तर मिला—'अच्छा।' ऐसे अनायास मत दे देना, पिया के स्वभाव में ऐसा नूतन, असम्भव था कि सुकान्त कुछ देर बात न कर सके।

थोड़े दिन, किन्तु उन थोड़े दिनों में कविता पिया के बहुत-कुछ के साथ परिचिता हो चुकी थी। सहसा पिया का परिवर्तन, उसका गाम्भीर्य कविता को अद्भुत तो लगा जरूर, किन्तु उसने कुछ पूछा नहीं।

'उधर जमींदार अधीर हुए। कहा एक दिन—ऐसा तुम्हें सोहता नहीं, पिऊ !'

'कौन-सी बात ?'

'यह गाम्भीर्य मेरी बालिका पिया को बूढ़ी कर रहा है। हँसी की फुलझड़ी तूने कहाँ खो दी बिटिया ? घोड़े को कैसे भूल गयी ? और—और मेरी वह जिद्दी बेटी कहाँ गुम हो गयी ? उसके जिद, ऊधम के बिना तो सब सूना हो रहा है।'

पिया हँसी, किन्तु उस जबर्दस्ती की हँसी ने सुकान्त का हृदय व्यथातुर कर दिया।

[२२]

'अपनी भूल मैं समझ गयी पिया और अच्छी तरह से समझ गयी ?'

'ऐसा ?'

'मर्दों को तुम बहुरूपिया कहा करती हो—सो बिलकुल ठीक है।'

'अचानक ऐसी कौन-सी बात हो गयी काकू ?'

बातें हो रही थीं कविता और पपीहरा में, शहर के एक बड़े मकान के सजे कमरे में दोनों बैठी थीं। दीर्घ वर्षों के बीतने के साथ-ही-साथ इस परिवार का भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो गया था। सुकान्त ने पेन्शन ले ली थी। शहर में रहते थे। बड़ा और सुन्दर मकान शहर में बना लिया था, अतुलनीय गृहसज्जा। गृह-कर्त्री थी नीलिमा। निष्फल क्रोध से हरमोहिनी गरजती रहतीं। कविता किसी बात में नहीं रहती थी, न गृहस्थी की बात में, न पति की। पिया के लिए घोड़ा और चाबुक तो था ही, उपरान्त एक और वस्तु ने उसे आकृष्ट कर लिया था, वह था चरखा। अब वह सूत कातती, खादी पहनती।

तो बातें चल रही थीं उन्हीं दोनों में।

'कौन-सी बात ? सह सकोगी उस बात को ?'—कविता ने कहा।

'न सह सकने का कभी कुछ मुझमें देखा है ?'—अपनी बात में पपीहरा आप ही हँसकर व्याकुल होने लगी और फिर देर के बाद जब हँसी रुकी तो पूछा—दिल्लगी नहीं काकू, चुपके से सुन लूँगी, सब सह लूँगी। अब मैं बदल भी तो गयी हूँ।

'कहने को जी नहीं चाहता।'

'तो चुप रहो।'

'वैसा भी नहीं कर सकती।'

'तो नदी में डूबी बैठी रहो।'

'चुप रह पिऊ, तुझे सावधान करना चाहती हूँ।'

'तो कर दो।'

'दिल्लगी अच्छी नहीं लगती, पिऊ!'

'चुप-चुप, पिऊ नहीं, पिया कहो।'—आर्त चीत्कार-सा पिया का स्वर कमरे के कोने-कोने में माथा पीटता फिरने लगा, नहीं-नहीं पिऊ, नहीं। पिऊ कहती थी मेरी दीदी। तुम पिऊ कहकर मत पुकारो, सह नहीं सकती। पापी कहो, पपीहरा कहो, चाहे कुछ कहो, पिऊ नहीं। मैं जाऊँगी।

'कहाँ?'

'दीदी के पास। देखूँगी, वे किस तरह मेरी दीदी को रोककर रख सकते हैं।'

'कब जाओगी?'

'जल्दी।'

कविता मौन रही।

'क्या बात कहने को थी काकू?'

'तू सह सकेगी?'—कविता के स्वर में सन्देह था और पिया के स्वर में झुँझलाहट।

'रहने दे अपनी बात। मैं नहीं सुनना चाहती, कहना है तो झटपट कह डालो।'

'निशीथ विवाहित है।'

उच्च स्वर से पिया हँसी—ऐसी चढ़ी-बढ़ी भूमिका के बाद यह बात? सच कहती हूँ काकू, मैं कल्पना भी न कर सकी थी कि उस भूमिका के बाद एक ऐसी बात सुनने को मिलेगी।

'अब दाँत बन्द करेगी कि हँसती ही जायगी? हर बात में दाँत निकालना, तेरी हँसी देखने से तो जी जलता है। सोचती है, तेरी तरह मैं भी परिहास करती हूँ। मैंने तो गिरीश बाबू के घर अपनी आँखों उसकी स्त्री को देखा है। तू झूठ मानती है?'

'सच तो मान रही हूँ, काकू!'

'फिर हँसती क्यों है?'

'हँसी आती है।'

'अच्छी हँसी आती है। पापी—प्रतारक कहीं का।'

'शादी करना क्या कोई पाप है?'

'पाप नहीं तो क्या है? जबकि वह विवाहित था, तो कह क्यों न दिया? किसीको इस तरह से आकर्षित करना, छिः-छिः! यदि विवाहित था तो उसने ऐसा किया क्यों?'

'तुम्हें उसने आकर्षित किया काकू? अरे—तो मुझसे तुमने कहा क्यों नहीं?'

क्रोध से विवश कविता उठी और चलने को हुई। पिया झपटी-झपटी गयी, उसे पकड़ लायी। दोनों बैठ गयीं।

पिया ने कहा—बात नयी नहीं है, काकू!

'तुम जानती थी?'

'बहुत पहले से।'

'ऐसा! किन्तु फिर भी कहूँगी—निशीथ बाबू का बर्ताव भद्रोचित नहीं हुआ। उन्हें यहाँ आना चाहिए था?'

'बिलकुल न आवें? किन्तु एक स्त्री जब लज्जा-शर्म को तिलांजलि देकर, अयाचित भाव से अपना प्रेम उसपर प्रकट कर सकती है, मुझे तो स्मरण नहीं, तुम्हींसे सुना है कि उस बीमारी के वक़्त मैंने उनसे बहुत-कुछ कह दिया। हाँ, तो जब स्त्री अपना प्यार, चाह की गोपनवार्ता एक पुरुष को अनायास सुना सकती है, तब क्या उनका यहाँ आना ही अपराध हुआ? उस प्रेम की मर्यादा रखने के लिए कभी उनका आ जाना ही क्यों बड़ा अपराध है? क्या करोगी तुम काकू, हमारा स्वभाव है अपना अपराध दूसरे के माथे मढ़ देना।'

विवर्ण मुख से कवि ने पूछा—कबसे तुम जानती थी कि वह विवाहित है?'

'जब वह गाँव पर मेरे साथ गये थे, बीमार होने के पहले।'

'सब जानकर तुमने ऐसा क्यों किया, पापी?'

प्रश्न किया कविता ने और पपीहरा पल-पल में मलिन हो गयी—मलिन हो गयी। पिया—पिया, पद्म-पराग-सी, वन की छाया-सी पिया, मीठी पपीहरा मलिन हो गयी।

'मैं कहती हूँ और जोर के साथ कह सकती हूँ, अब भी तुम उस नीच को चाहती हो।'

'तो इससे क्या ?'—पिया के मुँह की हँसी फिर सजीव हो गयी।

'इससे क्या ? खेद है पिया ? जब तुम जान गयीं कि वह विवाहित है, तब तुम सावधान क्यों न हुई ?'

'यदि प्रेम को तौलने की कोई कसौटी रहती, तो मैं भी उसे तौलती और समझती कि वह कितना वजनदार है। वह तो किसीका आज्ञाकारी नहीं है, काकू ! मैं उन्हें चाहती हूँ, बस जानती हूँ इतना ही ; न विचार है, न द्विधा। सावधान होने की चेष्टा नहीं की, यदि ऐसा कहूँ तो झूठ कहना होगा। मैं तो घृणा करना चाहती थी। जाने दो इन बातों को, तुम न समझोगी।'

'ऐसी कौन-सी बात है, जो समझाने पर भी न समझी जाय ?'

पिया मुसकरायी --सब बातों को सब लोग नहीं समझ सकते। द्विधा-हीन स्वर से मैं केवल इतना कह सकती हूँ कि मेरा प्रेम मेरा हो रहेगा, इससे दुनिया को हानि न पहुँच सकेगी—जरा भी नहीं।

'तू उसे ऐसा ही चाहती रहेगी ? अपने पति के घर जाकर भी दूसरे को प्रेम करेगी ? क्यों भूलती हो पापी, उसकी स्त्री है और वह सन्तान का पिता है।'

'तो उनके पतित्व और पितृत्व को मैं कब छीन रही हूँ ? वह संतान-वत्सल पिता बने रहें और पत्नी-प्रेमी पति। मैं तो जी से ऐसा चाहती हूँ। यदि इस बात को भूल सकती, तो उन्हें अपनी बाँहों में खींच न लेती ? तुम्हें तो मैं बुद्धिमती समझती थी, फिर इस जरा-सी बात को समझ क्यों न रही हो ? मैं अपने सिद्धान्त को कभी भी किसीके लिए नष्ट नहीं कर सकती। यदि वह विवाहित न भी होते, तो भी मैं उनकी पत्नी नहीं बन सकती थी।'

'उसे इसी तरह भरमाये लिये फिरती ? यह कैसा रहस्य है !'

'बिलकुल नहीं। संयोगवश शायद उन्हें इस प्रेम की खबर लग गयी है, वरना यह प्रेम-वार्ता दुनिया से छिपी ही रह जाती काकू। दुनिया की धूलि में उस प्रेम को कलंकित करने की वासना किसी दिन नहीं थी। स्वीकार करती हूँ, उन्हें मैं चाहती हूँ और इसके लिए लज्जित भी नहीं हूँ। विस्मित हो रही हो ? निर्लज्ज हूँ ? किन्तु मेरे विचार से एकनिष्ठ प्रेम एक ऐसी वस्तु है, जिसे लज्जा और संकोच स्पर्श नहीं कर सकता। ईश्वर को अनेक धन्यवाद है कि उनकी पत्नी होने का रास्ता न रखा, नहीं तो कौन-जाने उस पत्नीत्व के आवरण में मेरा

यह अम्लान, श्रेष्ठ प्रेम कदाचित् कुत्सित, विकलांग हो जाता। कहती थी, तुम सबकी तरह प्रेम को मैं अपराध की संज्ञा नहीं दे सकती। खेद और लज्जा है केवल उसके प्रकट हो जाने पर। परन्तु अब उसे सुधारने का कोई उपाय भी तो नहीं है काकू!'

'उपाय नहीं है? और मैं कहती हूँ, उपाय तेरे हाथों में है।'

'मेरे हाथों में? कहो-कहो, वह क्या है?'—अधीरता से पिया बोली।

'तुम विवाह कर लो, सब कुछ ठीक हो जायगा, अच्छे-से-अच्छे लड़के तैयार हैं।'

'विवाह कर लूँ? अपने साथ मैं प्रतारणा करूँ! यह मुझसे न हो सकेगा। मेरा जी तो उनके द्वार पर पड़ा है, फिर वहाँ दूसरे की जगह कैसे हो सकती है? यदि किसीसे विवाह कर लूँ, तो क्या मेरा प्रेम मेरे पास वापस आ जायगा, जो कि एक दिन किसीके द्वार पर लुट चुका है? कहो, उत्तर दो काकू!'

कविता कुछ देर चुप रही; फिर बोली—तुम शादी करोगी नहीं? कभी नहीं? यदि कभी किसीसे तुम्हारे मत की समता हो जाय?

'हो सकता है। किन्तु मेरे प्रेम का कोई 'बेरामीटर' नहीं है। सोच-समझकर, धीरे-सुस्ते कभी प्रेम हो सकता है। कौन जाने शायद ऐसा हो, परन्तु मैं उसे समझती नहीं। मैं जान भी नहीं सकी थी कि किस दिन मेरा प्रेम लुट गया। काका के सिवा बाकी मर्दों को तो मैं घृणा करती थी न? विस्मित हूँ, नहीं जानती कि यह कैसे क्या हो गया? और किसीसे मैं ब्याह नहीं कर सकती।'

'न-जाने तुम कैसी हो पिया। जाने कैसी अद्भुत-सी, रहस्य-सी!'

'तुमसे ज्यादा रहस्यमयी हूँ मैं?'

'रहस्यमयी—मैं?'

'हाँ, तुम। मुझे तो लगता है, तुम निरी पहेली हो।'

'क्यों ऐसा लगता है पिया?'

'जाने शादी के कितने वर्ष हो गये, किन्तु काका से हँसकर बात करते तुम्हें कभी न देखा। न तो गहने-कपड़े की चाह, न गृहस्थी की, न पति की। न जाने तुम कैसी हो। मुझे लगता है, तुम्हारा मन बूढ़ा हो गया है—बिलकुल बूढ़ा। अद्भुत जीवन है!'

'यों ही अच्छी हूँ।'

'सच तो कह दे मेरी काकू, काका को तुम बिलकुल नहीं चाहती ?'

'इन बातों को जाने दो पिया।'

'मैं सुनूँगी। मैं तुमसे कभी कुछ नहीं छिपाती, फिर तुम मुझसे क्यों छिपाती हो ?'

'मेरा प्रेम विचारहीन नहीं है पिया।'

'आश्चर्य है काकू, मेरे काका-जैसे व्यक्ति के लिए भी तुम्हें सोचने-विचारने की जरूरत पड़ती है ? क्या तुम सच कह रही हो ?'

'परन्तु यदि पति—नहीं, जाने दो, वह तुम्हारे काका हैं।'

'रुकी क्यों, कहो, मेरे काका में ऐसा कोई अवगुण नहीं रह सकता जो कि उनकी भतीजी से नहीं कहा जा सके।'—रुष्ट स्वर से पिया ने कहा।

'क्यों चिढ़ती हो, पिया रानी ? सम्भव और असम्भव का विचार करने जाकर कभी हम ऐसी भूल कर बैठते हैं, कि उस भूल को यदि हम समझ सकें, तो उस समय एक आत्महत्या के सिवा हमारे लिए दूसरा रास्ता न रहे, किन्तु सन्तोष और आश्वासन की बड़ी बात तो यह है कि उस भूल को हम शायद ही कभी भूल कहकर पहचान सकते हों, असम्भव भी कभी सम्भव हो जाता है। आदमी अपने-आपको अन्त तक नहीं पहचान पाता, वह दूसरे को कैसे पहचान सकता है ? मैं कहती हूँ, इस बात को जाने दो।'

पिया की असम्भव-सी गम्भीर आकृति को देखकर कविता हँसी को न रोक सकी—'सच कह रही हूँ, ऐसी गम्भीरता मुझे सोहती नहीं, पापी !

'चलो, रहने भी दो।'

'एक बात और कह दे रानी ; मेरी पिया, रानी पिया।'

'कुछ न कहूँगी।'

'अच्छा, न कहो, मुझ दुखिया से तुम भी मुँह फेर लो। क्या करना है, न कहो।'

'बड़ी खराब हो, तो पूछो न, क्या पूछती हो ?'—उसने कविता के गले में बाँह डाल दी।

'निशीथ को पास में पाने की इच्छा कभी नहीं होती ?'

'नहीं।'—ताच्छल्य से पिया ने उत्तर दिया।

'तुम्हारा सब कुछ असाधारण है।'

'होगा भी।'—अनमनी-सी पिया बोली।

'मेरी एक बात तू रख ले।'

'और तुम भी मेरा कहा मानो।'—पिया ने कहा।

'अच्छी बात है, पहले मेरी सुनो।'

'अरे, तो कह न। लगी वह भूमिका रचने।'

'तुम शादी कर लो पिया।'

'शादी कर लूँ ? और वेश्या होकर रहूँ ?'

'वेश्या ? क्या कह रही हो पिया ?'

'एक को जब मैंने हृदय से चाह लिया है, तब दूसरे से शादी करना—वेश्या बनना नहीं तो क्या है ?'

कविता सिहर उठी। बार-बार वह कहने लगी—वेश्या, वेश्या !

जोर के साथ पपीहरा ने कहा—वेश्या का जन्म कहीं बाजार में नहीं होता, हम स्त्रियों के अन्तर ही में हुआ करता है काकू। बाजार में तो उसके व्यवसाय से हमारी भेट होती है—वही व्यवसाय, जिसकी हम जी खोलकर निन्दा करते हैं, समालोचना करते हैं, परन्तु हमारे मन में, जन्म-जन्मान्तर से जिस वेश्या का जन्म होता चला आ रहा है, उसकी खबर भी रखते हैं हम ? किन्तु तुम्हारा चेहरा ऐसा विवर्ण क्यों होता चला जा रहा है ? नाराज हो गयीं ? मैंने कहा न कि मेरी बातें तुम न समझोगी। अच्छा, लो, मैं चुप हूँ।

'अब अपनी बात कहो।'—बोली कविता धीरे से।

'मेरी बात ? सीधी और छोटी है। बात नहीं, यह मेरा अनुरोध समझो, काकू ! काका को जरा स्नेह की दृष्टि से देखा करो, कभी उनके पास जाया करो। कहो, मेरे काका को स्नेह करोगी न ?'—आकुल आग्रह से पिया कहने लगी।

कविता की आँखों में आँसू भर आये। उन आँसुओं को देखकर पिया की दृष्टि व्यथा से म्लान हो गयी। इसके बाद ? इसके बाद उसने चुपकी साध ली। मानो जन्म की गूँगी हो।

पिया का अनुरोध कविता को अतिष्ट करने लगा। उसके कानों में वह

व्यथित-भिक्षा गूँजने लगी—काका को जरा स्नेह करना, कभी उनके पास चली जाना।

तो रात्रि के अन्धकार में कविता चली पति के लिए स्नेह लेकर। शायद वह स्नेह अधिक रहा हो, या कम रहा हो।

गुलाब-जल में बसे पान के बीड़े हाथ में ले लिये और जरा बाल भी सँवार लिये, शायद एक रंगीन साड़ी भी पहन रखी थी। ऊपर चली गयी। सामने पति का कमरा था। उसका नहीं, था वह उसके पति का कमरा। द्वार पर सुदृश्य काश्मीरी पर्दा झूल रहा था। धीरे से कविता ने पर्दा हटाया और द्वार के भीतर पैर रखा। उसी पल में वह एकदम शव-सी विवर्ण, स्पन्दनहीन हो गयी।

भीतर से सुकान्त की आवाज सुन पड़ी—कौन है? कविता। भीतर चली आओ न, सर में बड़ा दर्द है, नीलिमा दाब रही है। चली आओ।

नीलिमा उसके निकट से निकलती चली गयी। स्वप्नाविष्ट की तरह कविता भीतर आयी और पान रखकर लौटने लगी।

सुकान्त ने पुकारा—जाती कहाँ हो? यहाँ चली आओ।

चुपचाप कविता चली गयी। नहीं। पिया के सहस्र अनुरोध से भी इससे अधिक वह और कुछ नहीं कर सकती है। पाँच मिनट आगे कदाचित् और भी कुछ कर सकती थीं, किन्तु अब? नहीं-नहीं, इतना बहुत है, इससे ज्यादा कुछ नहीं कर सकती, नहीं कर सकती।

[२३]

पुराने नौकर के साथ पपीहरा एक छोटे-से स्टेशन पर उतरी। बड़ा गाँव, छोटा स्टेशन। ग्राम था विभूति का। टूटे-फूटे दो-तीन ताँगे स्टेशन पर खड़े थे, कई बैलगाड़ियाँ। दो ताँगे किराये पर कर लिये, एक में सामान लादा, दूसरे पर पिया और नौकर बैठ गये। ठण्ढ जोर की पड़ रही थी, सूर्य की नींद तब खुली न थी। दोनों ओर ऊँचे वृक्षों पर काक बैठे पुकार रहे थे। ग्राम की कच्ची सड़क से मन्थर गति से ताँगे चले जा रहे थे। कविता को ग्राम का दृश्य बहुत सुन्दर लगा। उसे उन दिनों की बात स्मरण हो आयी, जबकि वह अपने गाँव में थी। वे दो महीने उसे अब स्वप्न-से लगते। किन्तु उन दो महीनों की स्मृति उसके पास विनाश-हीन थी।

स्नेह-पूर्ण दृष्टि से पिया चहुँओर देखने लगी। कृषक स्त्री-पुरुष खेत की ओर चले जा रहे थे। कोई कन्धे पर कुदाली रखे था, कोई कुछ, एक-एक थैली हाथ से लटक रही थी। कोई बिरहा गाता जाता था, कोई तम्बाकू हाथ पर मल रहा था। स्त्रियों के सिर पर थी टोकरी, बच्चे उनकी पीठ से बँधे थे, कोई सिर की टोकनी में पड़ा हँसता जा रहा था। क्रमशः ताँगे गाँव के भीतर पहुँचे, कुत्तों का झुण्ड पीछे-पीछे भौंकता चला आने लगा। कृषक की फूस की झोपड़ियों में कहीं धूआँ निकल रहा था। बूढ़ा कृषक बाहर बैठा आग ताप रहा था और बैल के लिए रस्सा बट रहा था। मोदी की दूकान के सामने उलंग बालकों की भीड़ थी, मोदी उन्हें लइया देने में व्यस्त था। अवसर देखकर गाय ने मुँह मार दिया और भरी टोकरी के चने गिर गये। मोटी-मोटी लाठी लेकर वह उसके पीछे-पीछे दौड़ा। तबतक दूकान पर लइया की लूट हो गयी, गुलाबरेवड़ी की थाली भी खाली रह गयी। मोदी लौटा तो व्यर्थ आक्रोश से पत्नी पर गरजने लगा। मोदी-बहू नदी से लौटी थी, पानी का घड़ा सिर पर लिये उसने भी युद्ध की घोषणा कर दी। और यह कौतुक देखकर गाड़ी पर बैठी-बैठी पपीहरा मुसकराने लगी।

ताँगा विभूति के द्वार पर रुका। नोकर सामान उतारने लगा, पिया चुपचाप भीतर चल पड़ी। बैठक में पैर धरते ही मिल गया विभूति। विभूति पहले चौंका और फिर एकदम स्थिर हो गया—विवर्ण, अभिभूत। उसे लग रहा था, किसी तरह वह वहाँ से भाग निकले। पिया ने उसे देखा, उसके भाव को वह कुछ समझी। हँसकर बोली—कैसे हो जीजाजी? मुझे तो तुम सबने बॉयकाट कर दिया है। छोटी बहन को क्या इस तरह भूला जाता है भैया?

पिया के 'भैया' सम्बोधन में न-जाने कौन-सी मोहिनी भरी थी, जिस छोटे शब्द ने विभूति के मन में उथल-पुथल मचा दी। वह सिर खुजलाकर कहने लगा—बात यह है।

पिया खिलखिला पड़ी—बस, बस। रहने दीजिए। चलो भैया, माताजी के दर्शन तो करूँ।'

विभूति को विचारने का अवसर न देकर पिया ने निःसंशय भाव से विभूति का हाथ पकड़ लिया और खींचती उसे भीतर ले चली।

भीतर एक निराला दृश्य था। विभूति की माँ गला फाड़-फाड़कर बहू के

चौदह पुरुषों के पिंड-दान की व्यवस्था कर रही थीं, महरी उनके पक्ष में थी, जिस बात को अर्द्ध समाप्त छोड़ रही थीं, महरी उसे पूरा कर रही थी। अपराधिनी वधू यमुना पिरिच के टूटे टुकड़ों को बहोरने में लगी थी। बात समझने में विभूति को देर न लगी, क्योंकि यह बात उस घर में साधारण-सी थी। बहू नित्य बकी जाती थी। इसमें कोई नूतनत्व नहीं था।

जल्दी से विभूति ने पुकारा—माँ, देखो तो इधर किसे लाया हूँ।

एक साधारण मोटी साड़ी पहने हुए उस लड़की को देखकर जिज्ञासापूर्ण नेत्र से माता ने पुत्र की ओर देखा।

उनके पैर पकड़कर पिया कहने लगी—तुमको मैंने कभी देखा नहीं था। विभु भैया ऐसे हैं कि स्वयं न कभी जाते हैं, न मुझे लाते हैं कि चलो जरा माताजी के दर्शन तो करा लाऊँ। क्या करूँ अम्माँ, जी घबराने लगा तो तुम्हें देखने भागी-भागी चली आयी।

उस लड़की की मीठी-मीठी बातों से विभूति-जननी ऐसी प्रसन्न हुई कि उसका मुँह चूम लिया और कहने लगी—तुमको मैंने देखा नहीं है, बिटिया! कहाँ से आ रही हो?

'मैं? तुम्हारी लड़की हूँ। माँ के पास कहीं लड़की का भी कुछ परिचय रहता है? तुम मेरी माँ हो, पूछो न अपनी बहू से।

आँख में आँसू और मुँह में प्रसन्न हँसी भरे यमुना बोली—मेरी छोटी बहन पपीहरा है यह, अम्माँजी!

यह पपीहरा है? वही पपीहरा, जिसके कारण उनकी बहू अपने मामा की अगाध सम्पत्ति की प्रभु नहीं बन सकी, वही पपीहरा? जिस लड़की की निन्दा विभूति किया करता है, जिसका फैशन, बनाव, शृंगार देश-विख्यात है, वही घोड़े पर चढ़नेवाली, घमण्डी लड़की यही है? विस्मित विभूति-जननी के हृदय में पल-पल में ऐसे अनेक प्रश्न उठ पड़े, साथ में अखण्ड विस्मय। क्योंकि इस लड़की में उन सुनी हुई बातों का वह एक अंश भी नहीं पा रही थीं।

गृहिणी की समालोचक दृष्टि फिर भी एक बार सामने खड़ी लड़की पर जा गिरी। उस दृष्टि ने पाया, पैर की धूलि-मलिन, साधारण चप्पल, साफ किन्तु मोटी साड़ी, हाथों में तीन-तीन बारीक सोने की चूड़ियाँ, कान में झुमके, गले में

भी यों ही कुछ। सिर पर बड़ा-सा एक जूड़ा, शायद अवहेलना से बालों को किसी प्रकार से लपेटकर काँटे से अटकाया गया था। फैशन का, परिपाटी का कहीं चिह्न तक नहीं। उन बालों से घिरा, श्याम श्री-मंडित मुख, घने पलक के बीच का आयत, प्रतिभा-उज्ज्वल नेत्र गृहिणी को बहुत ही अच्छे लगे। यही है पपीहरा ? ऐसी अच्छी, ऐसी भली, देवी-सी। कुछ देर उसे देखकर गृहिणी बोली—तुम, तुम्हीं पपीहरा हो ? ऐसी सरस्वती-सी सुन्दर !

'मैं तो पिया हूँ, अम्माँ !'—पपीहरा मुसकरायी।

'नहीं, मैं तुम्हें बिटिया कहकर पुकारूँगी, लाड़ली बिटिया।'

गृहिणी वधू की ओर लौटीं—स्वाँग बनी खड़ी न रहो दुलहिन, बेचारी लड़की दौड़ी आयी है मुझसे मिलने। जाओ, उसके कुछ आदर-सत्कार की व्यवस्था करो। कपड़े बदलवाओ। चाय तुम न बनाना, चाय और जलपान बिटिया के लिए मैं अपने हाथ से बनाऊँगी।

विभूति व्यस्त हुआ—स्नान के लिए पिया को 'टब' चाहिए। ठहरो, मैं लाता हूँ।

'तुम बाहर जाओ जीजा। यदि मेरी माँ-बहन बिना 'बाथटब' के नहा सकती हैं, तो मुझे भी 'टब' की जरूरत न पड़ेगी।

सप्ताह बीत गया; किन्तु पपीहरा ने घर लौटने का नाम न लिया। गृहिणी ने तो मानो स्वर्ग ही पा लिया, आने-जाने की कौन कहे, दिन-रात वह पिया को अपने पास बैठाये रहती। पिया उन्हें अच्छी-अच्छी कहानियाँ, महाभारत, रामायण पढ़कर सुनाती ? सिर के सफेद बाल चुनती, गाना सुनाती और रात में छोटी बालिका-सी हठ करती—अम्माँजी, कहानी कहो। नहीं, यह लालवाली कहानी मैं जानती हूँ। पातालपुरवाली कहो। तो पाताल में राजकन्या चित्रलेखा रहती थीं ? दिन-भर सोती, रात में जागती ? कैसे जागती अम्माँ ? पारिजात फूल की गन्ध से ? तो इन्द्र-सभा से वह पुष्प कौन लाता था ? अच्छा, राजकुँवर इन्द्रनील ? समुन्दर के किनारे का वह महल सोने का था, एकदम सोने का ? कितना बड़ा था अम्माँ, चित्रलेखा दिन-भर सोती क्यों थी ? ऐसी नींद उसे कहाँ से आ जाती थी, माँ ? कहो न, तुम तो चुप हो।

गृहिणी हँसकर उत्तर देती—पगली बिटिया, चित्रलेखा आदमी थोड़े ही

थी। वह शाप-भ्रष्ट किन्नरी थी। इन्द्र के शाप से पृथ्वी में आयी थी। मुचकुन्द का फूल सुँघाकर कुँवर इन्द्रनील उसे सुला देता था और स्वर्णपद्म की खोज में जाता था। उस पद्म के स्पर्श से कन्या शाप से बचेगी न।

यों ही पिया तन्मय होकर रात-रातभर कहानी सुनती रहती, उसे बड़ा अच्छा लगता, कहानी के भीतर वह अपने को खो देती, दूर खड़े यमुना, विभूति हँसते, कभी उसे चिढ़ाते। पिया झुँझलाती। उस ओर से मुँह फेरकर पूछती—फिर क्या हुआ? चन्दन-वन के अजगरों ने कुँवर इन्द्रनीलसिंह को डस तो नहीं लिया?—अत्यन्त व्यथा से उद्ग्रीव होकर वह पूछती और फिर पूछती—डस तो नहीं लिया?

विभूति कहता—कैसी पगली है, यदि इन्द्रनील को साँप डस लेता तो कहानी बनती कैसे?

खिसियाकर पिया कहती—तुम्हें किसने बुलाया, जीजा? जाओ यहाँ से। देखो न अम्माँ, जीजा नहीं मानते।

'क्यों बेचारी लड़की को चिढ़ाता है? जा यहाँ से।'—विभूति-जननी कहती।

इसी तरह दो सप्ताह निकलते-निकलते पिया एक दिन हठ कर बैठी—अम्माँजी, तुम भी मेरे साथ चलो।

अत्यन्त प्रसन्नता से गृहिणी बोली—चलूँगी बेटी, किन्तु अभी नहीं।

'मैं अकेली लौटूँ?'

'नहीं बिटिया, विभूति और दुलहिन को साथ लेती जाओ, दुलहिन जाने कैसी हैं, न ममता है, न कुछ। कभी मायके जाने का नाम नहीं लेती। ऐसी बहन है, उससे पूछती नहीं। दोनों को ले जा बिटिया।'

मारे खुशी के पपीहरा उछल पड़ी। दौड़कर यमुना से शुभ वार्ता कह आयी।

यमुना ने उसे हृदय से लगा लिया। आँसू से वह अन्धी होने लगी।

दूसरे दिन उन दोनों के साथ पिया घर लौटी। कविता से उन दोनों का परिचय करा दिया।

चाय के टेबिल पर ज़मींदार के सिवा घर के और सब लोग बैठे थे। चाय पी रहे थे और बातें हो रही थीं।

'आलोक आता नहीं है पिया?'—विभूति ने पूछा।

'कम आते हैं, यहूदी स्त्री से उन्होंने शादी कर ली है। बाहर कोई आया। अरे, यह तो निशीथ बाबू हैं। आइए न, वहाँ क्यों खड़े हैं ?'

निशीथ ने विभूति को देखा और विभूति ने निशीथ को। दोनों का मन अस्वस्थ हो गया। एक का सान्निध्य दूसरे को अरुचिकर होने लगा।

पहले बोला विभूति—अच्छे तो हो न ? आज सर में बड़ा दर्द हो रहा है पिया, चलूँ—ज़रा सो रहूँ।

पिया व्यस्त हुई—नहीं-नहीं, यहीं सो रहो। इस 'काउच' पर लेट जाओ, जीजा ! 'बाम' मले देती हूँ। वाद-प्रतिवाद का अवसर न देकर जबरन पिया ने विभूति को वहाँ लिटाया एवं आप उसके सिरहाने बैठी, ललाट पर 'बाम' मलने लगी।

सेवा करने में पिया लग गयी, किन्तु निशीथ की दृष्टि में यह सेवा जाने कैसी अद्भुत-सी लगने लगी। एक दिन जिसने उसका अपमान किया था, उस पशु के लिए आज ऐसी सहानुभूति, ऐसी सेवा ? पिया का व्यवहार निशीथ को जैसा तो अशोभन लगने लगा, वैसा ही अस्वाभाविक, अद्भुत। वह विचारने लगा—एक दिन जिसने लात मारकर विभूति को दूर हटा दिया था, आज अनायास ही आदर, स्नेह से उसीने उसे किस तरह गोद में खींच लिया ? कैसी है यह छलनामयी नारी ? निशीथ स्थिर निश्चय पर चला गया, यदि नारी का हृदय है, तो वहाँ वास्तविक प्रेम की अनुभूति, मान अपमान का ज्ञान, यथार्थ स्नेह नहीं है। है मात्र ख्याल का खेल, और प्रेम' अभिनय। बस, यही है नारी के वास्तविक हृदय का चित्र। घृणा, विराग से निशीथ ने मुँह फेर लिया।

उसे उठते देखकर पिया बोली ऐसी जल्दी क्यों चले ? बैठिए न।

निशीथ चुप रहा।

अचानक पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर पड़ी, वह सिहर उठी—अरे, आपको क्या हो गया ?

और निशीथ ? मतवाला-सा उठता-गिरता वह भाग निकला, भाग निकला।

[२४]

अलसायी-सी दोपहरी में दो की घण्टी विरह-विधुरा तरुणी-सी बोल उठी—टिन-टिन।

क्लान्त स्वर से कविता कहने लगी—न-जाने यह कबतक बनेगा, मेरा तो जी ऊब गया।

हरमोहिनी पड़ोस में बैठने चली गयी थीं। नीलिमा अपने कमरे में सो रही थी। सुकान्त बैठक में थे। विभूति कहीं बाहर गया था। कविता और यमुना बैठी मोर बना रही थीं। काला 'वेलवेट' का टुकड़ा एक लकड़ी के 'फ्रेम' में तना हुआ था और उस पर मछली के छिलके का बना सफेद मोर मानो उड़ने को था। उसका सूक्ष्म कारुकार्य एक देखने की वस्तु थी। अनजान व्यक्ति उस छिलके के काम को हाथी-दाँत का काम अनायास कह सकता था।

मोर प्रायः बन चुका था, अब वह दोनों लाल, हरे सलमे के छोटे-छोटे टुकड़े उसके पंख में सी रही थीं। आश्वासन देती हुई यमुना बोली—बन गया है, घबराती क्यों हो मामी? थोड़ा-सा काम बाकी है, वह भी आठ-दस दिन में हो जायगा।

तबतक तुम चली जाओगी।'

'शायद न जाऊँ। अम्माँ आने को हैं न।'

'तुम्हारी सास आवेंगी?'

'हाँ।'

कुछ इतस्ततः कर कविता ने कहा—यदि बुरा न मानो तो एक बात कहूँ।

'मैं तुम्हारी बातों का बुरा मानूँ? ऐसा नहीं हो सकता, तुम असंकोच कहो।'

'सुनती थी, विभूति बाबू जरा दूसरे ढंग के हैं; किन्तु मैं तो उन्हें एक सीधे-सादे आदमी के रूप में देखती हूँ, यमुना!'

'जो कुछ तुमने सुना था, उसकी सत्यता मैं नहीं जानती; परन्तु इतना कह सकती हूँ कि अब जो कुछ देख रही हो, उसे तुम पिया का मन्त्र समझो। मुझे स्वयं ही समझ में नहीं आता कि मेरी सास-जैसी उग्र स्वभाव की स्त्री पर उसका मन्त्र कैसे चल गया। पिया-जैसी स्नेही स्वभाव की लड़की देखने को कहाँ मिलती है मामी? किन्तु मेरी पिया न-जाने कौन-से अशुभ नक्षत्र में जनमी कि सुखी न हो सकी। उसके लिए मुझे जरा-सी शान्ति नहीं मिलती। रात में सोते से जाग पड़ती हूँ। अन्त तक न-जाने क्या होगा, बेचारी सीधी लड़की।'

दीर्घश्वास के साथ कविता ने कहा—ठीक कहती हो यमुना, मुझे भी चिन्ता

लगी रहती है। उसके जीवन में यदि निशीथ की छाया न पड़ती, तो शायद पपीहरा सुखी होती। मैंने तो तुमसे सब कुछ कह दिया है। मेरा जी उसके लिए घबराता रहता है।

'मैं भी वही सोचती हूँ, यदि निशीथ उसके पथ पर न आता तो ऐसा न होता। शायद कुछ दिन के बाद पिया उसे भूल जावे। असम्भव कुछ नहीं है मामी। ईश्वर वह दिन शीघ्र दिखावे, जिस दिन उसके मुँह पर वास्तविक हँसी देख सकूँ।'

'तुम उसे बचपन से जानती हो यमुना, इसे मैं मानती हूँ। मैं तो थोड़े दिन से देख रही हूँ, किन्तु फिर भी मुझे लगता है, नहीं-नहीं, वरन् विश्वास है—प्राण चाहे चला जावे, वह निशीथ को भूल नहीं सकती। पिया-जैसी लड़कियों की जाति ही निराली है। इस जाति की स्त्रियाँ एकनिष्ठ प्रेम की पुजारिन होती हैं।'

'बात तो ठीक है मामी, किन्तु शायद कभी ऐसा हो जावे।'

'नहीं हो सकता, असम्भव है यमुना। इन दिनों निशीथ ने आना हठात् बन्द क्यों कर दिया?'

'मैं भी यही सोच रही थी। परन्तु उसका न आना अच्छा है।'

'जरूर।'

'किसीकी चर्चा करते बड़ा अच्छा लगता है। है न काकू? और दीदी, तुम क्या कहती हो?'

'तू कबसे खड़ी है?'—वे दोनों मुसकरायीं।

'चाहे जबसे हो। कौन किसे चाहता है? और न आया, इस व्यर्थ की पंचायत में न पड़कर यदि उस काम पर विचारतीं, जिसे हाथ में लिया है, तो शायद तुम दोनों का परिश्रम सार्थक हो जाता। और तब यह मोर ऐसा अद्भुत-दर्शन न होकर दर्शनीय हो जाता।'—इतनी बातें कहनेवाली वह दूसरी नहीं, पपीहरा थी। अपनी बातों में वे दोनों ऐसी लीन थीं कि किसी तीसरे व्यक्ति का आना जान तक न सकी थीं।

लजीली हँसी से यमुना ने कहा—छिपकर किसीकी बात सुनने में बड़ा मजा मिलता है न? है न पिऊ?

'उल्टे मुझी पर लौट पड़ीं दीदी ? छिपकर कहाँ आयी ? जाने कबसे तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ। तुम दोनों बे-सुध थीं। बात भी तो कैसे मजे की छिड़ी थी न ?'

'ये बातें पीछे कर लेना, पहले कहो, मोर खराब कहाँ हो गया ? ऐसी अच्छी चीज की भी तू निन्दा करती है ?'—कविता तो उतावली थी।

'खराब कैसे हो गया ? अपने-आप उसे बिगाड़ती जाती है और पूछती है, खराब कैसे हो गया। अब तुम्हीं कहो न, ऐसे सुन्दर, मार्बल-से सफेद मोर पर यह लाल, हरे सलमे कैसे लग रहे हैं ? बनी-बनायी चीज को बिगाड़ दिया। न-जाने तुम दोनों की रुचि कैसी है ? स्वाभाविक सौन्दर्य को तुम देखना नहीं जानतीं। नकली तुम्हें पसन्द है।'

डरती-डरती कविता बोली—तो पंख बैठते कैसे ? उसपर कुछ लगाना था न ?

'किन्तु उस कुछ की जगह तुमने रंगीन सलमे-सितारे क्यों लगा दिये ? रुपहली लगातीं या सादे पोत ही एक-एक लगा देतीं।'

'तू शिल्प-शास्त्र में पंडित कबसे हो गयी, पगली ?'—स्नेह से यमुना ने कहा।

'लगाकर ही देख लो, दीदी !'

'अच्छी बात है। खड़ी क्यों हो ? बैठ जाओ न।'

'बैठूँगी नहीं।'

'क्यों, अभी कौन-सा काम है ?'

'बाहर जाना है।'

'ऐसी धूप में कहाँ जा रही हो ?'

'पिकेटिंग करने।'

'तू जायगी पिकेटिंग करने ? सर्वनाश, ऐसी बातें तुझे किसने सुझायीं ?—यमुना और कविता उद्विग्न हो रही थीं।

परम सन्तोष से पिया ने कहा—घबराती क्यों हो ? मरने थोड़े ही जा रही हूँ। ऐसी आशा नहीं थी कि तुम दोनों रोकोगी। चुपचाप बैठी-बैठी ऊब गयी दीदी !

'अब समझीं। इसीसे कई दिनों से तुम बाहर ही बाहर घूमा करती हो

मैं जानूं, यों ही घूम रही हो। इस विचार को छोड़ दो बहन! मेरी पिऊ, कहना मान लो।'—यमुना ने कहा।

नौकर ने आकर कहा—विधान बाबू बाहर आये हैं। विधान की आगमन-वार्ता से कविता अनमनी हो गयी।

पिया जाने को हुई।

कविता ने उसे रोक लिया—सुनो तो पिया।

पिया लौटी और उसके निकट बैठ गयी। बोली—जल्दी कहो काकू, मुझे देर हो रही है।

'कहती थी इन्हीं महाशय की बात। ऐसा खराब व्यक्ति शायद ही हो। स्त्रियों को वह खेल की गुड़िया समझता है। जी चाहा खेल लिया और जो चाहा तो उन्हें तोड़-मरोड़कर पथ की धूल में फेंक दिया। तुम्हें सावधान कर रही हूँ, पिया! उसके साथ न मिलना अच्छा है।

पिया हँसी तो ऐसा हँसी कि हँसते-हँसते उसकी आँखों में पानी भर आया।

'मुझे उनसे डरकर चलना है?'—पिया ने कहा।

कविता खिसियायी—सब बातों में हँसी। जा, मैं नहीं जानती, जो कुछ तेरे जी में आवे, सो कर।

'तो मर्द से डरना सीखूँ? उसके साथ बाहर न जाऊँ और वह भी भय से? याने अपने मन की कमजोरी से? किन्तु मुझसे तो ऐसा नहीं बन सकेगा, मेरी काकू! अपने को मैं किसीसे छोटा कैसे समझूँ? अपने-आपको अपमानित करूँ, सन्देह करूँ—अपने साहस पर? नहीं-नहीं, यह सब कुछ मुझसे नहीं बन सकेगा। जिस दिन अपने से डरूँगी, अपने ऊपर सन्देह करूँगी, क्या उसके बाद भी तेरी पिया पृथ्वी पर रह सकेगी? तुम उदास क्यों होती हो! शंका किस बात की है? यदि तुम्हारी पिया अपने नारी-सम्मान की रक्षा न कर सकती, तो वह बाहरी जगत् को अपनाती ही क्यों? इस जरा-सी बात को क्यों नहीं समझती हो? वह लम्पट है, चरित्रहीन है तो अपने लिए है, मेरे लिए नहीं। यदि हम गणिका होकर बाहर जाना चाहती हैं तो वहाँ एक विधान बाबू नहीं, वरन् सहस्र विधान बाबू की लम्पट मूर्तियाँ हमें मिल जावेंगी, किन्तु यदि हम कल्याणमयी माता, बहन की मूर्ति में बाहर जाती हैं तो वहाँ वास्तविक भ्रातृ स्नेह का अभाव भी

नहीं हो सकता है, काकू! दुनिया में यदि राक्षस का जन्म हुआ करता है, तो देवता का भी अभाव नहीं है। और सबसे बड़ी बात यह है काकू, कि पशु का हृदय भी भ्रातृ-स्नेह से खाली नहीं हो सकता है। यदि पशुत्व उसका कभी जागता है, तो भ्रातृ-स्नेह भी कभी जाग उठता है। अच्छा, मैं जाती हूँ। तुम घबराना नहीं दीदी, शायद दो घण्टे में लौटूँ।'

सुकान्त के निकट चली गयी पिया और कहने लगी—काका, मैं पिकेटिंग करने जा रही हूँ।

सुकान्त चौंके, शंका, उद्वेग से हृदय पूर्ण हो गया, किन्तु फिर भी शान्त स्वर से बोले—अच्छा बिटिया।

'तुमने निषेध न किया?' --विस्मय से पपीहरा ने पूछा।

'तुम्हारे 'प्रिन्सिपुल', इच्छा के विरुद्ध तो मैं कभी कुछ करना नहीं चाहता पिया। मनुष्य-मात्र में जो एक स्वाधीन इच्छा होती है, उसमें बाधा देते मेरी आत्मा संकुचित होती है बेटी! नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता।'

पिया काका के कण्ठ से लिपट गयी—मेरे काका ऐसे हैं, ऐसे—ऐसे। उनका स्थान, मेरे काका का स्थान दुनिया में किस जगह पर है सो मैं जानती तो जरूर थी, किन्तु इसकी खबर मुझे नहीं थी कि वह एक देवता भी हैं।

पिया निकलकर भाग गयी और सुकान्त ने जल्दी से बहते हुए आँसुओं को पोंछ लिया। क्यों? कदाचित् उस आँसू का इतिहास छिपाना चाहते हों, दुनिया से।

[२५]

शीत की एक धूसर अवेला में बड़े बाजार की उस विख्यात और वृहत् विलायती कपड़े की दूकान के सामने भीड़ लगी हुई थी। स्त्रियाँ 'पिकेटिंग' कर रही थीं। किन्तु उस दिन के 'पिकेटिंग' की विशेषत्व थी, साहब सुकान्त की भतीजी; पाश्चात्य भावापन्न स्वयं पपीहरा।

साधारण वस्त्र पहने वह स्त्रियों के साथ दूकान के सामने धरना दिये बैठी थी।

कुछ ग्राहक उस तरुणी के अनुरोध से और कुछ सुकान्त साहब के लिहाज से एवं कोई अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से लौट रहे थे।

दर्शक एक कौतुक से खड़े देख रहे थे।

अँधेरी ने पृथ्वी पर अपने अन्धकार-रूप को फैला दिया। दूसरा जत्था स्वयं-सेविका नारियों का पहुँच गया और पहले की स्त्रियाँ जाने को हुईं। पिया ने रूमाल से अपना मुँह पोंछा, जाने के लिए खड़ी हो गयी। ऐसे ही समय निशीथ की कार, राशिक्रीत विदेशी वस्त्र लादे दूकान के सामने पहुँच गयी।

निशीथ की साली का विवाह था। श्वशुर ने वस्त्र खरीदने का भार दामाद पर दे रखा था।

मोटर पर था निशीथ और थी उसकी पत्नी मृणालिनी, दोपहर से वे दोनों वस्त्र खरीदते फिर रहे थे। गाड़ी रुकी तो पति-पत्नी दोनों उतरे, स्वयंसेविकाएँ सामने अड़ गयीं। मधुर हँसी से पिया खड़ी हो गयी। निशीथ ने अच्छी तरह से देखा, अवाक् विस्मय से पूछा—तुम पिया!

'मैं ही तो हूँ।'

'कर क्या रही हो, पिकेटिंग?'

'हाँ, वही। लौट जाइए। यहाँ की सब चीजें विलायती हैं।'

किन्तु स्तम्भित निशीथ ने लौटने की चेष्टा-मात्र नहीं की।

झुँझलाकर पिया बोली—सुन रहे हैं न आप? आप यदि स्त्रियों को कुचलकर जाना चाहते हैं, तो दूकान में चले जाइए। वरना लौट जाइए!

पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट निशीथ की कार को रुकते देखकर भीड़ और भी बढ़ने लगी। दर्शकों में कुछ तो मजा देखनेवाले थे और कुछ थे यथार्थ सहानुभूति रखनेवाले।

कान्स्टेबल रूल लेकर दौड़े आये, पुलिस-साहब के लिए जगह करना था न।

कुछ देर अपेक्षा के बाद पिया फिर बोली—चुप क्यों हैं मिस्टर घोषाल? जबकि स्त्रियों के हृदय पर से आप जा नहीं सकेंगे तो लौट जाइए।

निशीथ की तन्द्रा टूट-सी गयी। पहले उसने जनता की ओर देखा, फिर पिया की ओर, और बोला—जा रहा हूँ, और तुम?

पिया मुसकरायी—मैं तो यहाँ से जाने के लिए नहीं आयी, घोषाल!

एक हेड कान्स्टेबल को पुकारकर निशीथ धीरे से कुछ बोला। दूसरे पल

पुलिस के सदय व्यवहार से जनता समझ गयी कि घोषाल साहब ने निर्यातन करने से पुलिस को रोक दिया है।

निशीथ कार पर लौट गया।

पति के बर्ताव में और उस पिया नाम की लड़की की बातचीत में क्या था सो कौन जाने, परन्तु मृणाल का जी जाने कैसा कर उठा; कैसा कर उठा। उसे उन दोनों का बर्ताव अच्छा न लगा—बिलकुल नहीं। जाने उसके मन में अपमान के कैसे-कैसे काले, झटिकापूर्ण बादल मँडराने लगे। पहली बात तो यह है कि वह एक उच्च-पदस्थ पुलिस-कर्मचारी की स्त्री है, आयी है पति के साथ कपड़े खरीदने। और अपने ही देश की एक साधारण स्त्री के निकट पराजित होकर उसे लौट जाना पड़ेगा? किन्तु क्यों? मृणाल विचारने लगी—न दूसरे, न तीसरे देश में जन्म है, नहीं, वरन् भारत की उसी मिट्टी में दोनों का जन्म हुआ है। एक नारी अपनी पूर्ण शक्ति से अकड़ी खड़ी है, एक अपनी-जैसी भारत-नारी को पराजित करने के लिए। और फिर किस लिए? उसी मिट्टी का सम्मान रखने के लिए। भारत की गोद में पली हुई एक नारी को उसी गोद का अपमान करते देखकर वह गर्व से अकड़ी खड़ी है, उस गोद की रक्षा के लिए। खड़ी है और खड़ी ही रहेगी—जन्म-जन्मान्तर और युग-युगान्तर। ये बातें मृणाल पल-पल में विचार गयी और विचारती ही रही। उसकी पराजय से शायद पिया मुँह फेरकर ज़रा-सा मुसकरा देगी, शायद अवहेलना से उसे एक बार देख लेगी; या तो सखी-सहेलियों में उसकी हँसी उड़ावेगी, कहेगी—आयी थीं पुलिस-अफसर के घमण्ड में भूलीं। तो कर लिया कुछ? लौट गयीं न अपना-सा मुँह लेकर! मृणाल की चिन्ता पति की ओर लौटी और वह? उनपर उसने कौन-सी मोहिनी फूँक दी? उन-जैसे कर्तव्य-निष्ठ व्यक्ति पर उसने कैसा जादू कर दिया? वह अपना कर्तव्य भूले क्यों, किसलिए और किसके लिहाज से? उन्होंने आज किसके सम्मान की रक्षा के लिए अपना कर्तव्य विसर्जन कर दिया? न मातृ-भूमि के लिए, न और किसीके लिए। बस, उसी एक माधवी लता-सी लचकती नारी के लिए। वह उनकी परिचिता अवश्य है। किन्तु कभी भूलकर भी तो इस स्त्री का प्रसंग उन्होंने नहीं किया? ऐसा क्यों? यह कौन-सी ऐसी छिपाने की बात थी? इतना विचारने को तो मृणाल विचार

गयी और इस विचार का परिणाम निकला उलटा। पति से मृणाल बोली—कपड़े लिये बिना मैं घर न लौटूँगी और उसी दूकान से लूँगी।

मृणाल को दूकान की ओर लौटते देखकर दूसरी स्त्रियों के साथ पपीहरा धरती में लेट रही।

निशीथ दौड़ा-दौड़ा आया। पत्नी से अनुनय-पूर्वक बोला—चलो मृणाल, लौट चलें।

किंकर्तव्यविमूढ़ मृणाल लौटी तो सीधे मोटर में बैठ गयी।

किसी ने पिया के कान में कुछ कहा। पिया झपटी चली आयी निशीथ के आगे—आप भी अच्छे हैं। उन विलायती कपड़ों के बोझ को तो हलका करते जाइए। उस बोझ से गाड़ी भारी हो रही है।

उत्तर दिया निशीथ ने? नहीं, मृणाल ने; तीव्र स्वर से बोली—बस, यथेष्ट हो चुका है। ऐसे दामी कपड़े भीख नहीं दिये जाते हैं।

पिया मुसकरायी—भीख? हाँ, मैं भीख ही तो माँग रही हूँ, बहन! अपनी बहन से आज विलायती कपड़ों की भीख माँग रही हूँ और आगे कभी विलायती वस्त्र न लेने का वरदान भी।

प्रबल वितृष्णा से मृणाल ने मुँह फेर लिया।

पिया वैसे ही मुसकराने लगी—कहिए घोषाल, आप भी क्या भीख देने से मुँह फेरेंगे?

'पूछता हूँ, इससे लाभ क्या होगा पिया? जिस काम को आज मैं अनिच्छा से करूँगा, उसका परिणाम भविष्य में मधुर होने की आशा न तुम ही कर सकती हो और न मैं ही। अभी-अभी जिस विदेशी वस्त्र को मैं दे जाऊँगा और फिर भी उस विदेशी वस्त्र को मैं खरीदूँगा नहीं, ऐसा कौन कह सकता है? उस वक्त मुझे रोकेगा कौन, पिया?'

'रोकेगा कौन? रोकेगा वही मनुष्यत्व, जो कि आज के इस देने और लेने के भीतर मुसकरा रहा है, कौतुक देख-देखकर हँस रहा है। समझे न, घोषाल? वही तुम्हें रोकता रहेगा। अच्छा तो...।'

बात समाप्ति के साथ-ही-साथ पिया अनायास उन बहुमूल्य वस्त्रों को घसीट-घसीटकर बाहर फेंकने लगी। एक मूर्ति की भाँति निशीथ खड़ा देखने लगा।

जनता के नेत्र में था एक अखण्ड विस्मय। पुलिस थी स्तब्ध, हतवाक् एवं मृणाल के नेत्र में थी अपरिसीम व्यथा, क्रोध। किन्तु इन सबके भीतर पिया आबद्ध नहीं थी। वह तो अपने काम में मस्त थी, रीझी-सी।

कार्य शेष कर पिया ने विदा-सम्भाषण किया—नमस्कार। अब आप दोनों आराम से घर चले जाइए, गाड़ी भी हल्की हो रही है। दो मिनट में घर पहुँच जायँगे।

घर लौटकर मृणाल ने पूछा—वह स्त्री तुम्हारी कौन है?

'छिः, मृणाल!'—आहत निशीथ बोल उठा—छिः मृणाल! क्या कह रही हो?

मृणाल झुँझलायी—जानती हूँ, पूछने से तुम चिढ़ोगे, किन्तु दुनिया के सामने जिसके सम्मान की रक्षा के लिए आज तुम अपनी पत्नी का अपमान कर सके, उस स्त्री का यदि मैं परिचय जानना चाहूँ तो इसमें 'छिः' का स्थान बिलकुल नहीं है।

'दिन-पर-दिन तुम्हारा मन सन्दिग्ध होता जाता है, नहीं तो एक भद्र नारी के लिए तुम ऐसे गन्दे शब्द-उच्चारण नहीं कर सकतीं, मृणाल!'

किन्तु इसके बाद भी मृणाल पूछ बैठी—उसे तुम पहचानते हो?

'हाँ।'

'घर में कभी उसकी चर्चा क्यों न की?'

'जरूरत नहीं पड़ी। वह सुकान्त बाबू की भतीजी पपीहरा देवी हैं।'

'यही हैं पपीहरा? मर्दों के कान काटनेवाली डकैत पपीहरा! इसकी बातें मैंने बहुत सुनी हैं।'

'हो सकता है।'

'यह बात ऐसी है। और तभी परायी स्त्री के लिए घर की स्त्री का अपमान करना सम्भव हो सका है। पपीहरा है यह—पिया की बोली बोलनेवाली—प्यासी पपीहरा।'

बड़े आदर से निशीथ ने पत्नी को अपनी बाँह में खींच लिया—आज तुम यह सब क्या ढूँढ़ती फिर रही हो मृणाल? कभी तुम्हारा अपमान किया है मैंने, कि आज ही करता?

आँसू बहाती मृणाल बोली—यदि कभी करते तो शायद हठात् ऐसा वज्राघात मेरे हृदय में न हो पाता। क्यों—क्यों तुमने मेरे कपड़े उसे दे दिये? क्यों तुमने दुनिया के सामने मुझे उससे छोटा कर दिया?

'बिलकुल गलती। वह माँग उसकी नहीं, देश की थी। और इसी देश के लिए आज राजरानी पिया भिखारिनी बनी थी, मृणाल! अच्छा जाने दो इस बात को, अभी नहीं समझ सकोगी। चलो, मैं तुम्हें उससे भी अच्छे कपड़े खरीद दूँ।'—घबराया-सा निशीथ जल्दी-जल्दी कह गया।

मोटर पर दोनों बैठे और घण्टे-भर के बाद राशिक्रीत कपड़े लिये घर लौटे।

डाक की चिट्ठियाँ निशीथ खोल रहा था, कुछ दूर बैठी मृणाल पति के लिए नेकटाई बुन रही थी, रेशम का गोला उसकी गोद पर पड़ा हुआ था, उँगलियों से क्रुसिया चल रही थी।

तीन लिफाफे के बाद चौथे बार बारी आयी एक मूल्यवान् लिफाफे की। उसे खोला तो निशीथ के सामने एक-दो लाइन का पत्र निकल आया, उसमें लिखा था—'कृपया बाहर जरा सावधानी से जाया करें।' बस, लिखा इतना ही था, न किसीका नाम था, न कुछ सम्बोधन; तो भी निशीथ को लगा, सतर्क करनेवाली यह कोई स्त्री है और वह स्त्री दूसरी नहीं, पिया है।

'वाह, बड़ा अच्छा कागज है, किसका पत्र है?'—मृणाल ने पूछा। निशीथ चौंका। जल्दी से पत्र फाड़कर फेंक दिया।

'क्यों, बात क्या है? फाड़ क्यों डाला, ऐसी कौन-सी बात उसमें थी?'—विस्मय से मृणाल ने पूछा।

'कुछ नहीं।'—कहकर निशीथ उठ गया।

मृणाल ने चहुँओर देखा, फिर टुकड़ों को बीनकर कमरे में चली गयी। द्वार भीतर से बन्द कर लिया। उन टुकड़ों को जोड़कर पढ़ने की चेष्टा करने लगी। कुछ पढ़ सकी—'सावधानी से जाया करें।' भ्रूकुंचित हुए। 'जाया' को उसने बना लिया 'आया' करें। विचारा उसने, बस, बात यही है। याने सावधान होकर आया करो। कहीं कोई देख न ले। इस लाइन को उसने अपने-आप जोड़ दिया।

स्त्री का लेख है न? मन ने साक्षी दी—है, है, जरूर है, है स्त्री का लेख,

और उसी पिया नाम की लड़की का है। इसके बाद मृणाल ने अपनी राय पक्की कर ली। किस बात की?—उसी, पति के साथ-साथ रहनेवाली बात की। सीधी सी तो बात है। जब वह बाहर जावें तो वह भी साथ हो ले, और बस।

[२६]

मीठी धूप शीत के यौवन को उत्तप्त कर रही थी। मुट्ठीभर धूप में पड़ी हरमोहिनी परम सन्तोष से पपीहरा की बातें सुन रही थीं।

कब और कौन से दिन उन दोनों के बीचवाली उस प्रबल विरक्ति के स्थान में स्नेह का कलेवर पुष्ट हो गया था, इसकी खबर उन दोनों को थी नहीं। दालान में दरी बिछी थी, उस पर लेटी थीं हरमोहिनी, उनकी गोद के निकट बैठी थी पिया। आँगन के केले के वृक्षों से छनती हुई मुट्ठी-भर धूप निकली चली आ रही थी। धूप छाँह में गौरइया नाच-नाचकर पंख सेंक रही थीं। डाल पर की मैना झपकियाँ ले रही थी। पिंजड़े में लटकते हुए तोते सीटी बजाना भूलकर उन स्वाधीन जीवों की अनमोल खुशी को निहार रहे थे। दीर्घश्वास की गहराई में उनके गान डूब मरे थे।

जाने कौन-सी बात चल रही थी कि हरमोहिनी भीत स्वर से बोलीं— तू ऐसी बातों में मत जाया कर।

'क्यों अम्माँ जी?'—एक कौतुक था पिया के मुँह पर।

'तुम्हें भी किसी दिन पुलिस जेल में भर देगी।'

'हानि क्या है? एक नयी चीज से पहचान हो जायगी। जी चाहता है माँ, कि चली जाऊँ जेल।'

'अरी पगली, भले घर की स्त्रियाँ वहाँ कैसे जा सकती हैं?'

हँसी गोपन कर पपीहरा ने कहा—जाने कितनी भद्र-कुल-लक्ष्मी जा रही हैं। और तुम्हारे पिया के जाने से महाभारत अशुद्ध हो जायगा। यदि किसी चीज को हमें समझना है—उसके अन्तस्तल में प्रवेश करना है तो बाहर से नहीं, वरन् उसके रग-रग में भी घुल-मिल जाना चाहिए।

'तू लड़की है, जाने क्या? जेल में कहीं भले घर की लड़की जा सकती है? नहीं-नहीं, ये बातें किसीने तुमसे झूठ कह दी होंगी।'

पपीहरा खिलखिला पड़ी।

बाहर से काका ने पुकारा तो वह चली गयी और हरमोहिनी रह गयी अकेली। उसकी चिन्ता की धारा धीरे-धीरे पिया की ओर से लौटी, तो कविता पर सीधी चली गयी। हरमोहिनी उठकर कविता की ओर चली गयी।

'तुम क्यों आयीं माँ? मुझे बुला लेतीं।'—कविता ने कहा।

'तू मेरे सामने आती ही नहीं। चली आयी, क्या करती? माँ की आत्मा बुरी होती है।'

'यमुना जल्दी चली जायगी। इससे उसका मोर बना रही थी।'

'इन बातों को अभी रहने दे, कवि! मैं तेरी माँ हूँ, दुश्मन नहीं। जो कुछ मैं करूँगी, करूँगी तेरी भलाई के लिए। समझी?'

अत्यन्त विरक्त मुख से कविता ने कहा—वही पुरानी बात। तुम जानती नहीं हो माँ, पिया कितनी अच्छी है।'

'अच्छा-अच्छा, चुप रह। न-जाने तेरा कैसा स्वभाव हो गया है कि हर बातों का उलटा अर्थ लगाने बैठ जाती है। पिया की बात कौन कह रहा है? चाहे वह कैसी भी दुर्दान्त हो, बेशर्म हो फिर भी वह अच्छी है, मुझे चाहती है।'

'क्या कह रही हो?'—आश्चर्य में थी कविता।

'बच्ची मत बनो, कविता! आँख रहते अन्धी बनती है? क्या माँ को सब बातें कहनी पड़ेंगी?'

'मैं समझी नहीं, अम्माँ!'

फिर भी वही बात।'

'सच, नहीं समझी।'

'बच्ची है न; क्या समझे? अभी हुआ क्या है? किससे क्या कहूँ, मैं स्वयं हैरान हूँ। ऐसा अन्धेर भी न देखा था। कलियुग में विवाहिता स्त्री दासी बनकर रहती है और साली बन जाती है राजरानी। क्या कुछ समझती नहीं है?'

कविता चुपचाप अपना नाखून ठकशाने लगी।

'अभी भी समय है, सोच-समझकर चलो, मैं क्या जानती थी कि मेरे पेट में ऐसी कुलच्छणी जन्मेगी? मेरे जीते-जी तू समझ ले बेटी। पति से तू बात तक नहीं करती। यह कैसी बात है! वह मर्द है, तू औरत है, उसे जरा अपनाना भी तो सीखो।'

कविता चुपचाप वहाँ से चली गयी।

अब हरमोहिनी का धीरज जाता रहा। चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगी—ऐसा घमंड? माँ की दो बातें तुझे सुनने की फुरसत नहीं? जो जी में आवे करो, मुझे क्या? किसी तीरथ में जाकर रहूँगी। शाम-सबेरे विश्वनाथजी का दर्शन करूँगी और मुट्ठी-भर चना चबा लूँगी। माँ की ऐसी अवहेलना? इधर मर रही हूँ कविता-कविता कहकर, उधर लड़की मुझे फूटी आँखों नहीं देखती। जा चूल्हे में, मुझे क्या करना है, तेरे भाग्य में यदि दासी-वृत्ति लिखी है, तो मैं करती क्या? हजार मैंने तुझे राजरानी बनाना चाहा, किन्तु बनी तो वही नौकरानी न? भाग्य कहाँ जायगा?

कविता आकर फिर से सामने बैठ गयी—तुम मुझे क्या करने को कहती हो, माँ?

गृहिणी सहमी। नरम होकर पूछने लगी—क्या तू अन्धी है?

'नहीं। और मैं भी पूछती हूँ, इसके लिए मैं क्या करूँ?'

'नीलिमा को कोई तीरथ में भेज दे।'

कविता मलिन हँसी—ऐसा मैं करूँ क्यों?

'क्योंकि तेरा पति पराया होने जा रहा है।'

यमुना सामने आ गयी। उसकी ओर देखकर हरमोहिनी ने कहा—तू इसे समझा बेटी। हाय, मैं क्या करूँ? यह दोनों मेरी ही सन्तान हैं।—वह सिसक-सिसककर रोने लगी—मेरा सर्वनाश हो गया, यमुना! मैं कहीं की भी न रही।

किन्तु यमुना उस व्यथा में थोड़े-से सान्त्वना के शब्द भी उच्चारण न कर सकी। केवल स्तब्ध व्यथा से माता की उस लज्जा, व्यथा और दुःख के आँसू को देखने लगी।

'चिल्लाओ नहीं माँ, नौकर सुनेंगे।'—नतमस्तक कविता ने कहा।

'तू समझती है, नौकरों से बात छिपी हुई है!'

'कदाचित् ऐसा न हो। परन्तु जोर-जबरदस्ती मैं किसीसे नहीं कर सकती। मैं जो कुछ हूँ, इतना ही मेरे लिए बहुत है। और न मैं किसी के अधिकार को ही छीन सकती हूँ।'

'अधिकार कैसा, किसका अधिकार?'—हरमोहिनी ने पूछा।

'दीदी इस घर की गृहिणी हैं। उनका अधिकार मैं नहीं छीन सकती, न कहीं उन्हें भेज ही सकती हूँ।'

'उस हरामजादी को ऐसा अधिकार किसने दिया ? मैं कहती हूँ, इस घर में उसका रत्ती-भर भी अधिकार नहीं है; कुलटा कहीं की। मेरा धर्म-कर्म सब बिगाड़ दिया। मेरे पति के कुल में कलंक लगाया।'

'दीदी निर्दोष हैं, उन्हें गाली मत दो, माँ ! इस घर के प्रभु ने उन्हें गृहिणी का अधिकार दिया है। उस अधिकार को छीनने की शक्ति स्वयं घर के मालिक को नहीं है, फिर हमारी कौन कहे ? अच्छा, मैं जा रही हूँ, आओ यमुना ! मोर थोड़ा-सा बाकी है।'

चार बजे सुकान्त का परिवार चाय के टेबुल पर जमा हुआ था। गरम-गरम चाय प्यालों में डालती हुई पपीहरा कह रही थी—आलोक बाबू, आपके चाय में चीनी कम पड़ेगी न ?

'चाय मैं नहीं पिऊँगा, पिया देवी।'

'क्यों ? बैठिए न।'

'आज जल्दी है।'

'कहीं पार्टी में जाना होगा।'

'नहीं। आया था केवल उस बेईमान विधान की खोज में।'

'विधान बाबू की खोज में ?'

'हाँ-हाँ, उसी बेईमान के लिए आया हूँ। यदि आप उसका पता जानती हों, तो कह दीजिए।'

'कोई चार दिन पहले वह मेरे साथ पिकेटिंग करने गये थे। बस, उस दिन से आये नहीं।'

'और अब वह आयेगा भी नहीं।'—आलोक ने कहा।

'नहीं आयेंगे ?'

'नहीं—नहीं, वह भाग गया।'

'भाग गया ? मैं समझी नहीं, आलोक बाबू।'

'उस जैसा धूर्त शहर में दूसरा नहीं। मेरी बहन को आप जानती हैं न ?'

'प्रतिभा को जानती हूँ। थर्ड ईयर में है।'

'हाँ, प्रतिभा ! उससे विवाह का अङ्गीकार कर, और—और मेरा सर्वनाश कर वह भाग गया। अब उससे कौन शादी करेगा ?'

'प्रतारक, पापी, नीच कहीं का। ऐसी बात ? ऐसों को तो पेड़ से बाँधकर कोड़े लगाये जायँ तो ठीक हो।'—क्रोध से पिया लाल पड़ गयी।

'कोर्टशिप का यह पुरस्कार है पिया, अब चिढ़ने से क्या होता है ! नकल करना है हमें विलायती और फिर वह भी बुरी चीजों की। तो फल भोगने आयेगा कौन ? अब रोने-धोने से होता क्या है।'—धीरे से विभूति ने कहा।

पपीहरा चुप रह गयी। आलोक दाँत पीसकर रह गया। और सुकान्त शव-से अकड़ गये—रक्तहीन। विभूति को हँसी आने लगी।

यमुना ने आँचल से आँखें पोछ लीं। उससे वहाँ बैठा नहीं जा रहा था। केवल कविता का पता न चला कि इस वार्ता ने उसके मन को किस ओर झुकाया। फिर पता चलता भी कैसे, वह वहाँ थी ही नहीं न। एक कोने के कमरे में बैठी निविष्ट-चित्त से मोर के पंख पर सफेद सलमे के टुकड़े टाँक रही थी और उस मोर के सौन्दर्य में स्वयं मस्त हो रही थी। दुनिया की बातों से उसे सम्बंध ?

[२७]

बृहद् मैदानों में उच्च मंच बनाया गया था। पुराने वृक्षों पर बिजली के बल्ब बल रहे थे।

कई देश-नायकों के साथ पपीहरा मंच पर खड़ी भाषण दे रही थी।

भीड़ थी रन्ध्रहीन और उस भाषण में थी ओजस्विता, हृदय की एकाग्रता। श्रोता थे कुछ चंचल, किन्तु नीरव।

पुलिस ने घोषणा की—भाषण आपत्तिजनक है, उसे रोक दिया जावे।

परन्तु पिया का भाषण न रुका, वह और भी तेजस्विता से कहती गयी।

पुलिस जनता को भगाने लगी। विशृङ्खलता पैदा हो गयी। मार-पीट होने लगी। फोन-पर-फोन पुलिस-आफिस में दिये जाने लगे।

शीघ्र ही निशीथ की कार घटना-स्थल पर उपस्थित हुई। गाड़ी में बैठे-बैठे निशीथ ने पिया को देख लिया था। यद्यपि उस दिन मृणाल ने दस-पाँच मिनट पिया को देखा था, तो भी वह उसे पहचान गयी। वह भी पति के साथ कार में बैठी थी न। पति के साथ वह आयी थी कि मुझे सुधीरा बहन के घर जाना है।

निशीथ उतरकर कहता गया—तुम गाड़ी लेकर जाओ। सुधीरा के घर पहुँचकर गाड़ी भेज देना। यहाँ रुको नहीं। जल्दी आओ।

मृणाल मन-ही-मन मुसकराने लगी—क्या कहीं जाने के लिए वह यहाँ आयी थी?

निशीथ चिल्लाकर कान्स्टेबल से बोला—स्त्रियों पर अत्याचार न हो।

शब्द पिया के कान तक पहुँच गये। तब उसे मंच से उतार लिया गया था और उसे बाहर करने की चेष्टा हो रही थी।

उस बात को सुनकर पिया का मन निशीथ के प्रति श्रद्धा से भर उठा। किन्तु फिर भी निशीथ को अपने निकट से जाते देखकर वह व्यंग्य करने से पीछे न हटी—'और निर्दोष बच्चों को, मर्दों को पैर-तले कुचल डालो। देखिये, आपके वाक्य को मैंने किस सुन्दरता से पूरा कर दिया।'—धीरे से पिया बोली।

निशीथ ने व्यंग्य-कारिणी को देखा। पपीहरा मुसकरा पड़ी, मुसकरा पड़ी, कुमकुम की डिबिया-सी, सिंदूर की बिन्दो-सी मोहिनी पपीहरा।

उसकी वह हल्की-सी हँसी मृणाल की दृष्टि में अपराध की सृष्टि कर बैठी। गाड़ी पर बैठी वह उसी ओर निहार रही थी।

सब-इन्स्पेक्टर ने निशीथ से धीरे-धीरे कुछ कहा। एक विस्मय, एक अचम्भे की दृष्टि से इन्स्पेक्टर ने एक बार प्रभु की ओर देखा और फिर चुपचाप चल दिया। जब टैक्सी पर पुलिस पिया को घर तक पहुँचाने आयी, तब पिया के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा।

जनता छत्रभंग हो चुकी थी। निशीथ लौटने को था, सहसा पिस्तौल की गोली उसके कान के पास से सनसनाती निकल गयी। वहीं निशीथ बैठ गया। उसे वह छोटा पत्र स्मरण हो आया, जिसमें उसे सावधान किया गया था। पल-भर में एक बात उसके सर में झाँक गयी—कैसी अनोखी लड़की है यह पिया! अभी दो दिन पहले जिसकी अमंगल आशंका से उत्कंठित होकर वह उसे सावधान करने लग गयी थी, अभी-अभी बिना कारण उसे व्यंग्य, परिहास से विद्ध करने में भी इतस्ततः न कर सकी।

निशीथ लौटा। जनता तब चल चुकी थी। गोली चलानेवाले की खोज में पुलिस लगी थी।

'तुम अभी गयी क्यों नहीं, मृणाल ? यहाँ बैठी क्या कर रही हो ?—' गाड़ी पर बैठकर विरक्ति से निशीथ ने पूछा।

'पिया तो जेल भेजी गयी है न ? जाते-जाते वह तुमसे क्या बोली ?'

'पूछ रही थी—मृणाल बहन भी मुझे पकड़ने आयी या नहीं ?'

'वह भला, मुझे क्यों पूछने लगी ?'—रूठकर मृणाल ने कहा।

'जैसा समझो तुम।'

'हँसी उड़ाते हो मेरी, तो उड़ाया करो। परन्तु मैं जो हूँ, वही रहूँगी।'

'बस, इतना ही तो तुम सोच नहीं सकती हो, मृणाल। जिस दिन ऐसा विचार लोगी, उस दिन तुम-सी सुखी दूसरी न रहेगी और उस दिन पति-प्रेम की सत्ता की कोई दूसरी अधिकारिणी ऐसे सहज में न ढूँढ़ निकाल सकोगी। और न पति की हर बातों को सन्देह की दृष्टि से देख सकोगी। वरन् उस दिन तुम नीच सन्देह के स्थान पर जो कुछ पाओगी, उसे हम कल्याण कह सकते हैं। तब पति के इष्ट-अनिष्ट को तुम अनायास देख सकोगी। और उस दिन किसी स्त्री की मिथ्या ईर्ष्या से अधिक महत्व रखेगा तुम्हारी दृष्टि में पति की प्राण-रक्षा। गोली से पति को बचते देखकर ईश्वर से कृतज्ञता-प्रकाश करना सीखोगी। इतना मैं तुमसे जोर के साथ कह सकता हूँ, मृणाल !'

अत्यन्त लज्जा से मृणाल की आँखें झुक गयीं।

पिया घर पहुँची, तो घर-का-घर शोक से आच्छन्न-सा हो रहा था।

सुकान्त ने उसे हृदय से लगा लिया। यमुना, कविता आँखें पोंछने लगीं और विभूति आनन्द-विभोर स्वर से कहने लगा—तू आ गयी पिया ? कैसे आयी, मैंने तो देखा था लारी पर पुलिस तुझे लिये जा रही है। भागा-भागा मैं घर आया कि मामाजी से कहकर कुछ व्यवस्था करूँ। कैसे आयी, उन्होंने तुम्हें छोड़ कैसे दिया ?

'छोड़ते नहीं, तो क्या करते ? वरना तुम सब-के-सब अपना सिर न पीट लेते ! काका, तुम भी ऐसे हो ?'

'अब चाहे तू अपने काका को कुछ भी समझ पिया, सच बात तो यह है कि मैं सब-कुछ सह सकता हूँ, कर सकता हूँ। केवल एक बात नहीं सह सकता। अपनी पिया भैया के बिना मैं रह नहीं सकता हूँ।'

प्रेम से पिया काका के गले से देर तक लिपटी रही।

'चलो बेटी भोजन करने। सब घर उपवासा है।'

'अरे काकू, तुम पीछे क्यों खड़ी हो? रो रही हो? अरे! तुम सबने मिलकर यह कैसा स्वाँग मचा रखा है? रोती क्यों हो, क्या मैं मर गयी?'

'ऐसा मत कहो, पपीहरा। तुम्हारे बिना मैं रहूँगी कैसे? मेरा और है ही कौन?'

कविता की बात छोटी और सीधी थी, किन्तु उसमें जो एक नारी-अन्तर का आर्त्त, बुभुक्षित चीत्कार था, उस चीत्कार ने घर के सब प्राणियों को कुछ देर के लिए मूक बना दिया था।

बात मुँह से निकल जाने के बाद उन कहे हुए शब्दों के लिए कविता पछताने लगी, अपनी दुर्बलता में पिसकर आज वह यह कौन-सा अनर्थ कर बैठी? विशेषकर पति के सामने। जिस भिक्षा की झोली को वह माता की तरह आदर-सम्मान से सँभाले फिर रही थी, जिस झोली को सँभालते-सँभालते उसके यौवन के अनमोल पल गहरी निस्तब्धता के भीतर कटे जा रहे थे, और आज अनायास वह उस भिक्षा की झोली को पसारकर दुनिया के सामने खड़ी हो गयी, कहने लगी—मेरी भीख की झोली भर दो, दाता!—कविता अपने-आप प्रश्न करने लगी—जीवन की ऐसी अवेला में क्या जरूरत थी इसकी? दिन जब कट चुके थे, अभिसार की गहरी रातें जब शान्त अकेली में कट चुकी थीं, तब इस परिहास की कौन-सी जरूरत आन पड़ी? यदि संसार के सामने उसने रानी का मुकुट पहन लिया था, तो भिक्षा की झोली क्यों पसार कर बैठी? उस झोली को पसारने के पहले वह मर क्यों न गयी? यदि मौत न आना चाहती थी तो आत्महत्या तो कहीं भाग न गयी थी।

लज्जा से वहीं जो कविता ने सिर नीचा कर लिया, फिर सिर उठाने का नाम न लिया।

पपीहरा बोली—भोजन ठण्डा हो रहा है काका, चलो।

सब टेबुल पर बैठे। हँसी-खुशी से भोजन चलने लगा।

भोजन पर से हाथ खींचकर विमर्ष स्वर से पिया ने कहा—सुनते हो काका, नीलिमा काकी फिर कै कर रही हैं। उस दिन मैंने तुमसे कहा था न? हाँ, हाँ,

कहा था। वह बहुत कमजोर होती जा रही है। खाना-पीना बिलकुल बन्द है, और बस, दिन-भर कै और कै।

वमन का शब्द वे सब लोग सुन रहे थे।

सुकान्त चुप रहे।

पिया कहने लगी—हम जल्दी जा रही हैं, काका!

'अच्छा! मैंने कुछ सुना नहीं। कहाँ जा रही हो, कौन-कौन जाओगी?'

'भूल गये? उस दिन जब मैंने कहा था, तब हूँ-हूँ, क्यों कर दिया? हम देवघर जा रही हैं। काकू, मैं, अम्माँ, नीलिमा काकी, गुमाश्ताजी और बस। काकू को भी हवा बदलने की जरूरत है। देखते नहीं, वह कैसी हो रही हैं।'

'मेरी पिया के रहते हुए मैं क्या देखूँ?'

'तुमने कुछ नहीं खाया काका, तुम्हें साथ में जाने को नहीं कहा, तो नाराज हो गये?'

'हो तो गया।'

'झूठे, देखा आपने जीजा? मेरे काका कैसे झूठे हैं! कहिए न आप, क्या वह हमारे साथ जाते?'—उसकी बातों से सब हँसने लगे।

'कल दीदी चली जायँगी और हम परसों।'—पिया ने कहा।

'अच्छी बात है।'—सुकान्त ने कहा।

'परन्तु जीजा, तुम, दीदी सब लोग ऐसे उदास क्यों हो गये? भोजन सब पड़ा रह गया?'—पिया ने कहा।

'खा तो रही हूँ।'—यमुना ने उत्तर दिया।

सुकान्त जल्दी से चले गये। इसके बाद पपीहरा उठ गयी।

[२८]

किसी बात को कह देना कविता जितना सहज समझे हुए थी, किन्तु कहते समय उसने पाया सहज तो नहीं, उपरान्त एक प्रकार असाध्य-सा। तो किया उसने इतना कि चुपचाप नीलिमा की चारपाई पकड़कर खड़ी रह गयी। और नीलिमा एकदम उठकर बैठ गयी, जैसे कि अभी अभी प्रेत को वह अपने सामने देख रही हो। साथ ही अपने रक्तहीन मुख को छिपाने की चेष्टा से धरती में गड़ने को हो गयी।

अत्यन्त संकोच, द्विधा-जड़ित स्वर से कविता ने पुकारकर कहा—तुमसे कुछ कहना है, दीदी !

परन्तु जिसके उद्देश्य में ये शब्द कहे गये थे, जब उसने उत्तर देने के बदले मुँह फेर लिया, तब एक बार फिर से गला साफ करने की जरूरत बढ़ गयी कविता को, खाँस खखारकर कहने लगी—तुम माँ बनने चली हो ? नहीं, शर्माओ नहीं, शर्माओ नहीं ; सुनो मेरी बातें। अस्वीकार करती हो ? बात झूठ है ? मैं कहती हूँ, ये बातें कोई विश्वास न करेगा। सब जानते हैं। पहली बात तो यह है—तुम ना करो ही क्यों ? मैं जानती हूँ, तुम गर्भवती हो और यह भी कि माँ होते हुए भी तुम अपना सन्तान-वध करने जा रही हो। कहो, सच कह रही हूँ या झूठ ?

किसीने उत्तर नहीं दिया, तो कविता ने कहना आरम्भ किया—जो कुछ तुमने किया है, वह तुम्हारी अपनी बात है, और उसपर कुछ कहने-सुनने का अधिकार मुझे नहीं है। उस विषय को लेकर तुमसे तर्क करने या तुम्हारी निन्दा करने नहीं आयी हूँ ; वह तुम्हारी अपनी बात है। किन्तु आज जो कुछ करने जा रही हो, वह बात एक ऐसे की है, जिसके बल पर आज पृथ्वी थमी हुई है और नारी का नारीत्व निर्भर है। पृथ्वी के चहुँओर आँख पसारकर देखो, पाओगी केवल सृष्टि और सृष्टि, धरती सदा सृष्टि में मस्त, व्याकुल रहती है, निद्रा की शान्ति में भी उसकी सृष्टि रुक नहीं पाती। जल के अणु में सृष्टि होती रहती है और ऋतु के तन से सृष्टि फूट निकलती है। ओंकार के अंग से अखिल ब्रह्माण्ड की रचना हो जाती है। ऋषियों के स्तवन से राग-रागिनी की सृष्टि होती है। सृष्टि, अन्तहीन सृष्टि और सृष्टि—पालन के बीच में पृथ्वी, पालनकारिणी पृथ्वी अपनी सत्ता को बिसरी, कल्याणमयी माता बनी देवी के सिंहासन पर बैठी हुई है। और तुम करने जा रही हो संहार ? वध, सन्तान-वध ? सन्तान-वध पाप के सिवा और भी है अमिट कलंक। माता के नाम का विनाश-हीन कलंक, प्रत्येक माता का कलंक, इस वध के बाद सन्तान अपनी माता का विश्वास नहीं कर सकेगी। अपनी लज्जा ढाँकने के लिए सन्तान-वध मत करो, दीदी ! नारी के नाम पर, माता के नाम पर, जननी के नाम पर ऐसा कलंक न लगाओ। मैं पूछती हूँ—इस हत्या के बाद क्या तुम्हीं अपने-आपको मुँह दिखला

सकोगी? क्या तुम्हारी आत्मा तुम्हें किसी भी दिन क्षमा कर सकेगी? नहीं-नहीं, मुँह न छिपाओ। कहो, हत्या तो न करोगी?

'मैं दुनिया को मुँह कैसे दिखलाऊँगी! दुनिया मुझे क्या कहेगी?'

'एक अपराध को ढाँकने के लिए पाप की सृष्टि करोगी! लज्जा ढाँकने के लिए बच्चे का खून करोगी? कहो, जवाब दो।'

'वे ऐसा करने को कहते हैं।'

कविता चुप हो गयी, बिलकुल चुप।

'उन्हें मैं रोकूँ कैसे?'—नीलिमा ने कहा।

'उनके काम की समालोचना मैं नहीं कर सकती। तुम्हें केवल कह इतना सकती हूँ कि कार्य-मात्र का परिणाम एक रहता है। तो उस कार्य का परिणाम चाहे जैसा निकले, कार्यकर्ता ही को वह प्राप्य भी है। तुम्हारे काम का परिणाम चाहे जैसा जो कुछ हो, वह तुम्हारे सामने है। उसे तो उठा लेना तुम्हींको पड़ेगा, दीदी। धीरज धरो, डर किस बात का है? माँ के स्नेह से विचार करो। हम माँ हैं, जननी हैं, घातक का खड्ग हमारे लिए नहीं है। हमारे लिए तो है केवल कल्याण।'

यमुना आकर बैठ गयी।

'ऐसा करने के लिए वे हठ करते हैं।'—मूर्च्छातुर-सा नीलिमा का स्वर कमरे की वायु में माथा पीटता फिरने लगा।

'हठ करते हैं! पति वह तुम्हारे अवश्य हैं।'

कविता के मुँह की बात मुँह में रह गयी। दोनों हाथ से मुँह ढाँककर नीलिमा चिल्ला पड़ी—नहीं-नहीं, ऐसा मत कहो।

उदास व्यथा से कविता कहने लगी—अभागिन दीदी, पति नहीं तो वह तुम्हारे कौन हैं? बाल-विधवा, ग्राम की गोद में पली, जिसने कि कभी मर्द की छाया न रौंदी थी, उसका धर्म नष्ट करनेवाला पुरुष उसका कौन हो सकता है? जिसके द्वार पर तुमने अपना एकनिष्ठ प्रेम, पूजा की आरती लुटा दी, अपना सर्वस्व खो दिया, वह मर्द तुम्हारा पति नहीं, तो क्या हो सकता है? हमारे हिन्दुस्तान में तो केवल पति-पत्नी का उच्च स्थान है, वेश्या का नहीं। हाँ—तो उस पति के वचन टालने में तुम्हें द्विधा न करनी चाहिए, जो कि कापुरुष हों,

समाज में अपना सुनाम, लज्जा ढाँकने के लिए सन्तान-वध करे, पिता होकर भी वंश-नाश के लिए विषाक्त खड्ग उठावे, ऐसे पति का वचन हम टाल सकते हैं। यदि पति स्वार्थी है, भूल में है, पाप कर रहा है, तो स्त्री का कर्तव्य है उसे रोकना, अपनी मंगलमयी बाँह में उसे खींच लेना।

'फिर तुमने पत्नी होते हुए ऐसा क्यों न किया, मामी?' —यमुना बोली कविता से।

कविता के मुँह पर पीड़ित हँसी खिल पड़ी—ऐसा क्यों न किया? किन्तु उन्होंने तो किसी दिन पत्नी कहकर मुझे स्वीकार किया नहीं।

कविता कुछ देर चुप रही, फिर बोली—मैं तो इस बात को अपने तक ही रखना चाहती थी, किन्तु आज तुम जबर्दस्त आघात कर बैठी, यमुना! कहती थी—जो प्यार एक दूसरी स्त्री के द्वार पर लुट चुका था, कदाचित् मुझसे विवाह के पहले, तो उस प्रेम की, उस चाह की भीख मैं माँगती कैसे? कभी एक दिन भी तो उन्होंने—नहीं; जाने दो उस बात को। मेरी लज्जा, मेरी कथा मेरे ही लिए छोड़ दो। कहना केवल इतना है यमुना, यदि उन्होंने भूल की है, तो अब भी वह सुधर सकती है। प्रकाश्य रीति से दीदी से वह ब्याह कर लें और दुनिया के सामने अपनी सन्तान को गोद में उठा लें। पिता का काम करें। इसमें तो अब केवल एक बाल-विधवा का प्रश्न नहीं रह गया, पिता का श्रेष्ठ और प्रधान प्रश्न भी है न?

'तुम तो अन्धेर की बात कहती हो, मामी! मामा-जैसे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति विधवा से—विशेषतः गर्भवती विधवा से बिवाह कैसे कर सकते हैं?'

'तो वह हत्या करें—यही कहना चाहती हो न? मैं पूछती हूँ, प्रतिष्ठा का महत्व ज्यादा है?'

'जरूर।' यमुना ने कहा।

'और हत्या क्या है? पाप नहीं है? किन्तु क्यों? छिपकर जो काम किया जाता है, वह पाप नहीं तो क्या है? जाओ, तुम उन्हें समझाओ, वह तो पशु नहीं हैं। मेरे विचार से स्नेह भी उनका क्लिष्ट नहीं है। मैं जानती हूँ, उनका हृदय कितना स्नेहशील है, ऊँचा है! यदि उन्होंने एक भूल कर ली है, तो वह भूल उनके मनुष्यत्व को नहीं ढाँक सकती।'

'दुनिया में मार-खसोट मची रहती है, वह तो केवल सुनाम और प्रतिष्ठा

को और प्रतिष्ठित रखने के लिए न ? तो उस सम्मान, प्रतिष्ठा को पैरों तले कुचलने के लिए मामा से अनुरोध कैसे करूँ ?'—यमुना ने कहा।

'ठीक है। किन्तु वास्तविक साहस और सद्भावना तथा सत् साहस से प्रतिष्ठा, सम्मान बढ़ता है, घटता नहीं। अच्छा, तो मैं ही कहूँगी।'

'कवि, तू मेरी छोटी है। और मैंने जो कुछ किया है, उसकी चर्चा अब जाने दो। लिखी-पढ़ी मैं हूँ नहीं, कुछ समझती नहीं, किन्तु इतना कहूँगी कि ऐसा अन्धेर मत करो। मैं जो कुछ हूँ, उसमें सन्तुष्ट हूँ। तू अपनी गृहस्थी सँभाल।' नीलिमा रोने लगी।

'इस विवाह से मैं आन्तरिक सुखी होऊँगी, दीदी! सच कह रही हूँ। तुम्हें आपत्ति मेरे लिए है, समझती हूँ। दीदी! तुम व्यर्थ अपना मन न दुखाओ। मेरे कहने से नहीं, वरन् अपनी मातृ-स्नेह से सन्तान का शुभ देखो। बस इतना ही।'

कविता के साथ यमुना भी बाहर चली गयी।

भोजन तैयार था। यमुना और पपीहरा को ढूँढ़ती कविता एक कमरे के बाहर खड़ी हो गयी। कुछ ऐसी बातें उसके कान में पड़ीं, जिन्होंने कि उसे भीतर जाने से रोक दिया। कविता ने सुना, पिया कह रही है यमुना से—ऐसी गन्दी बातें मुझसे मत कहा करो, दीदी! और न ऐसे नीच विचार मन में रक्खा करो। मैं नहीं कहती कि तुम झूठी हो, किन्तु इतना निश्चय है कि तुम गहरी भूल में हो। मेरे काका देवता हैं। यदि वह नीलिमा काकी पर स्नेह करते हैं, तो इसमें बुरी बात कौन-सी है ? और काकी की बातें, जो कि तुमने अभी-अभी कही थीं, वे सब बातें भूल हैं, तुम्हारा भ्रम है।

पिया के सामने जाकर, चिल्लाकर कुछ कहने के लिए कविता को प्रबल इच्छा होने लगी; किन्तु अत्यन्त सहिष्णुता से उसने अपने को रोक लिया। यमुना पर मन-ही-मन विरक्त होने लगी, उसकी बुद्धि पर हँसी। एक शिशु से वह विश्व के ध्वंस की वार्ता सुनाने लगी थी!

किन्तु फिर भी निर्बोध यमुना को कहते सुना—भ्रम नहीं पिऊ, मैं सच कह रही हूँ, जो कुछ मैंने कहा, वह सच है। घर के सब लोग जानते हैं।

पिया खिलखिला पड़ी, हँसती रही, हँसती रही, पपीहरा हँसती रही।

विरक्त यमुना उसका मुँह निहारती रह गयी।

बोली पिया, हँसकर बोली—चुप रह दीदी। तेरी बातों से मुझे हँसी आ जाती है। झूठ को तुम सब कैसा सच समझे बैठी हो। अच्छा चलो, तुम्हारा सामान बँधवा दूँ। तीन बजे की ट्रेन है न कल? न जाने काकू सबेरे से कहाँ चली गयी?

[२६]

वसन्त-ऋतु के हिंडोले पर तब 'हिण्डोल' राग अपनी भेरी बजाने लग गया था। जल, स्थल और अन्तरिक्ष में सुहावनी घड़ियाँ घुली हुई थीं। वृक्ष के कोटरों में पक्षी शावक की रक्षा में व्यस्त थे। कोयल, बुलबुल के गान में वे घड़ियाँ घुल चुकी थीं। दिन का सुनहरापन निकल चुका था।

अपने बरामदे में आराम-कुर्सी पर पड़ा-पड़ा निशीथ दुकान के बिलों को देख रहा था। सामने के बगीचे को माली सींच रहा था। ड्राइवर कार साफ करने में लगा था। बीच में बड़े फव्वारे में लाल, सफेद मछलियाँ किलोलकर जल में ऊधम मचा रही थीं। आम की शाखा पर दबका बगला ताक में लगा था कि मछली जरा ऊपर आयी कि वह दो-एक को ले भागे। पृथ्वी कर्ममय थी—व्यस्त।

बिलों को निशीथ देखता जाता और घबड़ाता जाता था—नहीं, इस तरह से मुझसे नहीं बन सकेगा। बापरे, इस महीने में सेण्ट, साबुन, क्रीम, पाउडर का खर्च तो देखो, पच्चीस की जगह चालीस। ब्लाउजों की सिलायी पचास। अन्धेर हो गया, और साड़ी का दाम कितना लिखा है, ढायी सौ! हाँ-हाँ ढायी सौ तो है। दो जार्जेट, एक बनारसी, एक गज ब्रोकेट, एक गज प्लास। अरे यह ब्रोकेट, और प्लास कौन-सी बला है? इन दो गज कपड़े के दाम ही रखे हैं चालीस ऐसे यह कौन-से कपड़े हैं? और सिल्क, वायल, मुराठी इनके दाम? नहीं ऐसे ज्यादे नहीं। तो इस महीने में मृणाल ने हठात् इतना खर्च बढ़ा क्यों दिया?

कमरे में पहुँची मृणाल और पति की कुर्सी में लगकर खड़ी हो गयी—यहाँ तो कोई नहीं है, फिर किससे बातें कर रहे थे, दीवाल से?

'दीवाल से क्यों बातें करूँ, जरा इन बिलों को तो देखो। इतने ढेर-से कपड़े, पाउडर, स्नो, सेण्ट, इस महीने में क्यों मँगवाये गये?'

जरूरत पड़ी थी तभी मँगाया। क्या अब मुझे नाप तौलकर सेण्ट, पाउडर खर्च करना पड़ेगा ?'

'नाप-तौलकर ? कभी मैंने ऐसा करने को कहा है मृणाल ? मैं स्वयं साबुन, क्रीम नहीं लगाता इससे क्या। तुम्हें क्यों रोकूँ ? मेरी रुचि भिन्न है तो रहने दो। तुम मेरे घर आयी हो। इसलिए तुम्हारी रुचि मैं नहीं बदलना चाहता, पति के अधिकार से भी नहीं। किन्तु सब बातों की सीमा रहती है। जितना सम्भव हो, उतना करो। दो महीने से देख रहा हूँ इन चीजों का खर्च बढ़ता जाता है। लड़कियाँ दोनों बड़ी हो गयीं, उनको ब्याह देना है न ? लड़के भी अभी कॉलेज जायँगे और होस्टल का खर्च तो तुम जानती हो। यदि इन चीजों में हर महीना इतना पैसा निकल जाया करे तो बच्चों के लिए बचेगा क्या ? और लड़कियों का ब्याह कैसे होगा ?'

'ब्याह कैसे होगा सो मैं क्या जानूँ।'

'तो कौन जाने ?'

'आज इन थोड़े से कपड़ों के लिए जाने कैसी-कैसी बातें सुनाई जा रही हैं। किन्तु उस दिन अनायास वे दामी कपड़े दान कर दिये गये थे। मैं भी कहती हूँ, आज से तुम्हारे पैसे पराये समझूँगी, छूऊँगी नहीं।'

'बस इस जरा-सी बात के लिए रूठ गयीं ? चलो-चलो भीतर चलो।'—निशीथ विचलित हो रहा था। दोनों भीतर गये तो आदर से पत्नी को विव्रत करता हुआ निशीथ कहने लगा—मैं क्या किसी दूसरे का हूँ ? कमाता तो केवल तुम्हारे लिये हूँ, मृणाल नाराज क्यों होती हो ज़रा धीरता से विचारो तो सही। इन चीजों में पैसा लगाना पानी में बहा देना है। दूसरी बात, एक खराब दृष्टान्त बच्चों के सामने रखना है। यदि हम ही विलासिता में डूब रहेंगे, तो वे क्यों न हमारे दृष्टान्त पर चलेंगे ? मुझे विस्मय है मृणाल, अचानक इस विलासिता का पाठ तुमने किससे सीख लिया ?'

'इसकी जरूरत अभी कुछ दिन पहले से आन पड़ी थी। उस बात को क्या तुम नहीं जानते या नहीं समझते ?

स्तब्ध—विस्मय से निशीथ पत्नी को देखने लगा—नारी की यह कैसी हेय वृत्ति है ? बनाव-शृंगार के बल पर वह पति-प्रेम पर जय पाना चाहती है ?

आत्म-सम्मान को पैरों तले कुचलने में पीछे नहीं हटती। भिक्षा का यह कैसा घृणित रूप है?—विचारने को तो निशीथ इतना विचार गया, किन्तु पल-पल में वह विवर्ण भी होने लगा, किन्तु क्यों, ऐसा क्यों? पहले तो मृणाल ऐसी नहीं थी। बनाव-शृंगार के बल पर तो कभी उसने पति-प्रेम पाना न चाहा था, वरन् अपनी सत्ता के बल पर वह रानी बन बैठी थी। फिर किस स्थिति ने उसे इतने नीचे तक उतार दिया? मैंने? कभी नहीं। यदि वह बिना कारण सन्देह करे तो मैं क्या कर सकता हूँ? क्या करेगी पपीहरा और क्या करूँगा मैं? निशीथ को हँसी आयी—जो पिया मर्द की छाया तक से घृणा करती है, उस पपीहरा पर यह सन्देह करती है। ज्वर के वक्त वह जो कुछ बोली थी वह तो शायद प्रलाप ही रहा होगा।—प्रलाप—केवल प्रलाप? शायद—शायद, नहीं वह तो प्रलाप ही रहा होगा। और यहाँ मृणाल व्यर्थ ईर्ष्या में जली जा रही है। यह मृणाल का अन्याय है, ईर्ष्या है, जलन है। न जाने ऐसे-ऐसे कितने ही कटु शब्द निशीथ मन में कहने लगा, किन्तु फिर भी न जाने क्यों मृणाल के प्रति उसका स्नेह उमड़-सा आया—बेचारी मृणाल, दस बार वह मन में कहने लगा—बेचारी मृणाल।

'तू पगली है मृणाल।'—निशीथ मुसकराया। उस मुसकराहट ने मृणाल के मन की ईर्ष्या पर मधु का प्रलेप चढ़ा दिया। वह भी मधुर हँसी और पति के निकट जरा खिसककर बैठ गयी।

नौकर ने द्वार पर से पुकारा—पत्र है।

पत्र देकर नौकर चला गया। एक श्वास में निशीथ ने पढ़ लिया। पत्र विभूति का था। वह लोग अपने घर जा रहे थे। निशीथ को मुलाकात के लिए बुलाया था एवं उसे भोजन के लिए निमन्त्रण भी दिया था।

'किसका पत्र है?'—पूछा मृणाल ने।

'विभूति का।'

'यह कौन महाशय हैं?'

'सुकान्त बाबू के दामाद।'

'पपीहरा तो क्वाँरी हैं न?'

'हाँ, उनकी बहन के पति हैं विभूति।'

'क्या लिखा है ?'

'मुझे भोजन के लिए निमन्त्रण किया है।'

'जाओगे ?'

'जाऊँगा क्यों नहीं ? रात की पैसेञ्जर से वे लोग जा रहे हैं।'

'मेरी ही सौगन्ध है वहाँ न जाना। यदि तुम वहाँ गये तो मैं विष खा कर मरूँगी—मरूँगी—मरूँगी।'

मृणाल उठकर चली गयी।

निशीथ स्तम्भित हो रहा।

रात के आठ बजे मृणाल वस्त्राभूषण पहनकर आयी—चलो।

'कहाँ ?'—निद्रालु भाव से निशीथ ने पूछा।'

'सिनेमा में।'

'अभी !'

'हाँ, अभी। देखते नहीं, मैं तैयार होकर आयी हूँ। चलो।'

'अभी कैसे जाना हो सकता है ? और यह कोई वक्त भी नहीं है।'

'नौ बजने को है। वक्त कैसे नहीं है ? मैं तो चलूँगी ही।'

'भाई के साथ चली जाओ। मुझे आज काम बहुत है।'

'बहाना करते हो। अच्छा न जाओ।'—वह मुँह बनाकर चली गयी।

निशीथ कुछ देर बैठा रहा। फिर भीतर जाकर पत्नी से पूछा—'तुम गयी नहीं ?'

मृणाल चुप रही।

'क्यों न गयी मृणाल ?'

'नहीं।'

'चलो न, मैं तैयार हूँ।'—हँस रहा था निशीथ।

'और मैं नहीं हूँ।'

'यह अच्छी दिल्लगी है। चलो ! बच्चे भी भला क्या सोचते होंगे ?

'चाहे कुछ सोचें, मैं नहीं जाने की।'

'अच्छा भई माफी माँगता हूँ, अब तो चलो।'

मृणाल प्रसन्न हँसी के साथ उठी।

'लड़कियाँ कहाँ हैं ? वे न चलेंगी ?'—निशीथ ने पूछा।

'नहीं।'

'क्यों नहीं ? बुला लो उन्हें।'

'वे कल चली जायँगी।'—कहकर मृणाल गाड़ी में बैठ गयी।

गाड़ी कुछ दूर निकल गयी तो मृणाल ने कहा—नहीं, आज सिनेमा न चलूँगी। चलो, जरा योंही घूम आयें।

'अच्छी बात है।'—उत्तर में निशीथ ने कहा।

शहर के बाहर खुली हवा में गाड़ी उड़-सी चली। अचानक मृणाल चिल्ला पड़ी—रोको, रोको।

'क्यों, क्या बात है ?'

'स्टेशन चलूँगी।'

प्रगाढ़ विस्मय से निशीथ चुप रहा। प्रश्न-उत्तर करने को उसका जी न चाहा—न चाहा। वह थक-सा गया था न।

मृणाल कहने लगी—भूल गयी थी। विमला आज आनेवाली है। सबेरे उसकी चिट्ठी मिली थी। जब यहाँ तक आये हैं तो चलो जरा स्टेशन में देख लें, वह आयी है या नहीं।

निशीथ कुछ न बोला। गाड़ी से उतरा और चलने को हुआ।

मृणाल ने उसका हाथ पकड़ लिया। इसके बाद इठलाती-सी प्लेटफार्म पर चली गयी।

यमुना और विभूति को पहुँचाने स्टेशन पर पपीहरा एवं कविता आयी थीं। ट्रेन आने में देर थी। वे सब प्लेटफार्म पर बैठे बातें कर रहे थे।

उन सबने निशीथ को देखा।

विभूति ने कहा—तुम्हारे लिए हम सब भूखे बैठे रहे निशीथ। जब आते न दिखे तो लाचारी से हम ही ने खा लिया। आये क्यों नहीं।

'आप भी कैसे हैं निशीथ बाबू, दिन-भर हम सबने मिलकर रोटी बनायी और भूखों मरी।'—हँसती हुई पपीहरा बोली।

पति को खींचती हुई मृणाल बोली—जोर से सिर-दर्द होता है, घर चलो।

अत्यन्त करुणा से निशीथ ने पत्नी को देखा, फिर पिया से बोला—आज

जरा व्यस्त रहा पिया देवी, क्षमा करना और विभूति, यमुना देवी, आप भी। अच्छा नमस्कार।

वे चले गये तो यमुना ने कहा—क्या यह निशीथ बाबू की पत्नी है ?

'हाँ।'—कविता ने उत्तर दिया।

कैसी असभ्य है, न स्वयं बोली, न निशीथ बाबू को बात करने दी। जैसी तो असभ्य है वैसी घमण्डिन और अशिक्षिता।'—यमुना अकेली ही बड़बड़ाती रही।

[३०]

उस घर में जाने एक कैसी उदासी छाई हुई थी! वैसी सुहावनी वसन्त-ऋतु भी मानो उस घर में मूक, बधिर थी—गूँगी-सी, व्याधि-क्लिष्ट एक क्षय रोगी-सी निर्जीव।

यमुना चली गयी थी। पपीहरा वायु-परिवर्तन की व्यवस्था में व्यस्त और कविता न जाने कौन-सी धुन में सुध-बुध बिसार बैठी थी, एक तपस्विनी-सी और उस दुखिया नीलिमा के मन की कथा तो वही जाने।

प्रातःकाल पिया सोकर उठी तो द्वार के बाहर भेंट होगयी कविता से। वह जाना और पिया उसे रोकना चाहती थी—काकू, तुम रोती थीं?

'मैं? तो किस दुःख से रोऊँ?'

'तुम मुझसे उड़ती हो'? झूठ बोलती हो, काकू? मानती हूँ कि झूठ बोलना भी एक आर्ट है। किन्तु तुम-सी स्त्री के लिए नहीं। तुम झूठ नहीं बोल सकती हो, काकू। मैं जान लेती हूँ—चाहे तुम अपने को कितना भी छिपाओ।'

'झूठ कैसा? मच्छर बहुत थे। रात में सो न सकी।'

पिया खिलखिला पड़ी—अच्छा जाओ, काकू! तुम पर दया आती है।

मुसकराती कविता चलने लगी।

पिया ने पुकारा—सुनो तो। तुम्हें जाने क्या हो गया है। वायु-परिवर्तन की बातों में ध्यान नहीं देतीं। सब तैयारी हो गयी है। कल बाम्बे-मेल से चलना होगा, समझीं?

'कल नहीं, मेरी पिया रानी, केवल एक सप्ताह और ठहर जा। फिर सब लोग खुशी से चलेंगे।'

'क्यों काकू ?'

'एक ज़रूरी काम है।'

'कौन-सा ऐसा काम है ?'

'वह काम ही ऐसा है पिया, कि उसे किये बिना मैं स्वर्ग में जाने को भी तैयार नहीं हूँ।'

'ऐसा ! क्या मैं नहीं सुन सकती ?'

क्यों नहीं।'—असंकोच कविता कहने लगी—और बात ही ऐसी कौन-सी छिपाने की है ? तुम्हारे काका की शादी कर लूँ तो चलूँ।

'फिर भी वही काकावाली बात।'—पिया का जी जाने कैसा उदास हो गया। उसने पूछा भी नहीं कि ऐसा क्यों कर रही हो और नयी दुलहिन कौन है। नहीं, वरन् वह भाग गयी, भाग गयी। पिया—पपीहरा मीठी खुशी-सी, शान्त हँसी-सी पपीहरा—भाग गयी, भाग गयी।

काका के विषय में वह कुछ सुनना नहीं चाहती। चकित कविता कुछ देर चुप खड़ी रही, फिर पति के कमरे में चली गयी।

पहुँची तो पाया उसने सुकान्त को आँख बन्द किये पड़े। यह कमरा उसके पति का था ; किन्तु उसका नहीं।

कविता ने एक अकम्पित दृष्टि से कमरे को देखा। एक विराट् विलासिता की छाप लिये कमरा मूक नहीं—मुखर हो रहा था। उसका मन कदाचित् एक बार ललचा-सा उठा—उस विलासिता, उस प्रेम के राज्य में अपनी भी एक हलकी-सी छाया, छोटी स्मृति खोज निकालने के लिए ; किन्तु पाया उसने कुछ भी नहीं। छोटी-सी खोयी हुई स्मृति ? खोये हुए, हलके चुम्बन ? नहीं, कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं।

उस पलंग पर पड़े व्यक्ति उसके पति थे ; किन्तु कैसे पति ?—पलभर के लिए उसके मन में विचार उठा—मेरे तो वह पति हैं ; किन्तु कैसे पति ? दो छोटे अक्षर उसके मन के भीतर व्यंग्य, परिहास से धूम मचाने लगे—पति—पति—पति।

पत्नी को देखकर विस्मय से नहीं ; किन्तु एक अवसाद से सुकान्त उठकर बैठ गये—आओ कविता, बैठ जाओ।

कविता सहम कर कुर्सी पर बैठी, असंकोच बोली—आप दीदी के पति हैं, तो उस पतित्व को दुनियाँ के सामने स्वीकार करने में हानि क्या है ?

सुकान्त का स्वर भारी हो गया—हानि क्या है ; किन्तु अपना अपराध मैं तुमसे नाटकीय ढंग पर क्षमा कराना नहीं चाहता कविता। मैं स्वार्थी हूँ, पशु हूँ, किन्तु फिर भी तुम्हारे जीवन को जिस तरह मैंने नखों से छिन्न-भिन्न कर डाला है, उसके लिए क्षमा-प्रार्थना कर एक नाटक की सृष्टि मैं कभी भी नहीं कर सकूँगा। तुम कहती हो हानि क्या है ?

'मेरी बातें मेरे ही लिए छोड़ दीजिये। अपने जीवन से समझौता कर लूँगी।'

'जानता हूँ कविता, तुम देवी हो। और उस देवी को पशु की रक्त-पिपासा की आहुति भी नहीं बनाना चाहता। पशु हूँ, किन्तु पशु भी कभी देवी का ध्यान कर लेता है और वह ध्यान ही उसका चरम लाभ है, वही है पशु-जीवन का वरदान। तुम कहती हो हानि नहीं है ? परन्तु मैं कई बातों के लिए असमंजस में पड़ गया हूँ।'

'वह कैसी भी जटिल समस्या क्यों न हो, किन्तु सन्तान के कल्याण के आगे कोई भी समस्या नहीं उठ सकती। आप सन्तान के पिता हैं।'

सुकान्त ने सर नीचा कर लिया।

'शायद यह समस्या प्रतिष्ठा, सम्मान और पिता को लेकर है, और—और, शायद उस समस्या में मैं भी कुछ उलझ-सी गयी हूँगी। कदाचित् यही है आपकी समस्या।'

सुकान्त ने मुँह फेर लिया, उनका आर्तस्वर कमरे के कोने-कोने में सिर पीटता फिरने लगा—चुप रहो कविता, चुप रहो। आज कैसी-कैसी बातें तुम करने के लिए आयी हो ? नहीं, मैं सच सुनना नहीं चाहता, झूठ में सना पड़ा रहना चाहता हूँ।

'किन्तु आपके लिए तो वैसा नहीं हो सकता है। आप सन्तान के जन्मदाता हैं, पिता हैं।'

'कुछ नहीं। मैं किसीका कोई नहीं। यदि भूल की है, तो भूल ही को निर्मूल समझना चाहता हूँ। मिथ्या को सत्य मानना चाहता हूँ।'

'पिता को सत्य मानना और मिथ्या वर्जित करना है। आप पिता हैं।'

'सुन लिया, सहस्र बार सुन लिया कि मैं पिता हूँ। पिता—पिता—। तो मुझे करना क्या है?'

'वास्तव को प्रतिष्ठा दे, सन्तान को पितृस्नेह से गोद में उठा लेना।'

'मैं तैयार हूँ।'

'फिर देर न करें। कल वैदिक मत से विवाह हो जाय।'

'कल ही? क्या दो दिन विचार करने का समय न मिलेगा?'

'नहीं।'—न्याय-विचारक की भाँति गम्भीर स्वर से कविता कह उठी।

'अच्छी बात है। परन्तु पिया के सामने मैं ऐसा करूँ कैसे?'

उस स्वर को सुनकर कविता का चित्त, स्नेह, दया से भर उठा। बोली—आप लज्जित, संकुचित किसलिए हो रहे हैं? पिता के सत्कार्य से, वास्तविक कर्तव्य से, यथार्थ साहस को देखकर पपीहरा सन्तुष्ट होगी, और पृथ्वी खुशी मनावेगी एवं देवता देंगे आशीर्वाद। घातक के खड्ग से आप सन्तान को बचा लेंगे, उसका वास्तविक अधिकार उसे देंगे, इसमें हँसने की, निन्दा की, धिक्कारने की कौन-सी बात है?

'अच्छा, मैं तैयार हूँ।'

कविता चली गयी।

बात जब हरमोहिनी के कान तक पहुँची, तो उन्होंने अपना सर पीटकर खून बहा लिया। हिन्दू के घर की बाल-विधवा का पुनर्विवाह? बाप रे बाप, कैसा अंधेर है! सृष्टि डूब जायगी, डूब जायगी। सत्य सुन्दर कुछ न रहने पायगा। रो-पीटकर उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया।

आधीरात में कविता माँ के सिरहाने बैठ गयी—किसलिए आज तुम ऐसा कर रही हो, माँ? जरा विचारो तो सही।

उन्मादिनी-सी माँ उठ बैठी—मेरा सर्वनाश हो गया। दुनिया को मैं मुँह कैसे दिखाऊँगी?

'वास्तविक अपराध को छिपाकर दुनिया के सामने साधु बनना एक पाप है, माँ। और इसलिए हम सब उस पाप से बच रहे हैं।'

'चल हट, दूर हो मेरे सामने से।'

'जरा-सा तो समझो माँ।'

'अरे ! मैं क्या समझूँ ? मेरे सात पुरखे नरक में डूब जायँगे। हिन्दू की विधवा का विवाह न कोई शास्त्र में है, न धरम में।'

'बाल-विधवा का विवाह शास्त्र-संगत है। कौन कहता है कि नहीं है ? यदि पहले ही दीदी को ब्याह देती, तो ऐसा दिन आता ही क्यों।'

'चुप रह। उसी सत्यानाशिनी के लिए मेरा धर्म-कर्म सब बिगड़ा।'

'चिल्लाओ मत। सुनो तो सही। उस बेचारी को क्यों कोसती हो ? वह तो जनम-दुखिया है। न वह लिखना जानती है, न पढ़ना ; पाप-पुण्य भी नहीं पहचानती। कह दिया कि यह पाप है, और बस, पाप के रूप को कभी उसे पहचानने का अवसर भी दिया था ? पुण्य से उसका परिचय कराया था ? ब्रह्मचर्य का नियम बचपन से उसे पालन कराया था ? ब्रह्मचर्य के शुभ को किसीने उसे समझाया था ? उस ओर उसकी रुचि कभी तुमने कराने की चेष्टा की थी ? दुनिया ने उसे दिया था क्या ? कहो न ? चुप क्यों हो ? क्या दिया था ? मैं तो जानती हूँ—उसे क्या दिया था। केवल अविराम लाञ्छना, परिहास और दरिद्रता, केवल परिश्रम एवं नियमों का एक काला पहाड़, बस। दिया था इससे ज्यादा कुछ ? तिल-भर भी ज्यादा, कुछ अच्छा किसी भी दिन कुछ दिया था उसे। जरा-सी सहानुभूति भी तो नहीं थी उसके लिए। मैं पूछती हूँ, उस अपढ़, ग्रामीण विधवा के सहारे के लिए एक हलका-सा तिनका भी कभी उठाकर धर दिया था उसके हाथ पर ? नहीं, कुछ नहीं; मैं जानती हूँ, कुछ नहीं। और उसी विधवा से दुनिया यदि बड़ा-सा त्याग माँग बैठे, तो वह उसे कहाँ से दे सकती है ? मैं तुम्हींसे पूछती हूँ – माँ, तुम हत्या चाहती हो या रक्षा ?'

तकिये के भीतर गृहिणी ने अपना मुँह छिपा लिया। कविता चुपके से उठी और अपने कमरे में चली गयी। एक बार उसकी इच्छा हुई कि नीलिमा के रुद्ध कमरे में झाँककर देखे, परन्तु वैसा उसने कुछ न किया, अपने कमरे में जाकर बत्ती बुझाकर पड़ रही। कौन जाने, उस अँधेरी रात में उसकी आँखों में नींद रही या आँसू ?

[३१]

उस दिन का सवेरा कविता के द्वार पर प्रलय के रूप में आ जायगा, इसकी खबर किसे थी ? झलमलाती धूप उस वृहत् मकान के दालान, कमरा में होती

हुई आधे आँगन में फैल चुकी थी, किन्तु उस अभागिन नीलिमा की रुद्ध खिड़की के भीतर पहुँच न पायी थी। फिर इसकी खबर भी कौन रखता ? सब अपने-अपने काम में व्यस्त थे।

पपीहरा किसलिए उस बन्द कमरे के ठीक सामने उस दिन थमथमाती रही, सो वह स्वयं ही नहीं जान सकी। साँकल खटखटाने लगी। कोई उत्तर न मिला, तो चिल्लाकर पुकारने लगी— नीलिमा काकी, ओ काकी, अरी सुनती हो ? जाने नीलिमा काकी कैसी सोती हैं। बाप रे बाप, नौ बजे तक यदि मैं सोऊँ, तो मेरा जी घबराने लगे। नहीं, वे उठने की नहीं। चलो, जरा टहल आयें।—पपीहरा चलने को हुई कविता वहाँ से निकली, तो हँसकर बोली—अकेली बकती हो या कोई सुनता भी है पिया ?

'देखो न, वह बेखबर कैसी सो रही है ? नौ बजते होंगे ?'

'नौ नहीं, साढ़े नौ हो गये। क्या दीदी उठीं नहीं ?'

'और कह क्या रही हूँ ?'

कविता ने जोर से दरवाजे पर धक्का दिया—एक, दो, तीन, और देती ही चली गयी। किन्तु नहीं, भीतर जीवन की श्वास नहीं उठ सकी।

घर के दास-दासी, हरमोहिनी सब एकत्र हो गये। बाहर खबर गयी, एव सुकान्त पहुँचे। तब दरवाजा तोड़ने का परामर्श हुआ। दरवाजा तोड़ा गया। प्रायः एक साथ सबकी दृष्टि कमरे के भीतर चली गयी। मृत्यु के साथ जीवन के युद्ध से कमरा ध्वस्त, त्रस्त, मथित हो रहा था। एक ओर जल-शून्य सुराही टूटी पड़ी थी, कदाचित् तृष्णार्त्त नीलिमा उसके जल से न अघानी हो और मारे प्यास के अन्त तक सुराही तोड़कर उसके टुकड़ों को सूखे ओंठ से चूसा हो। कमरे के बीच में उसका विवश शरीर पड़ा था। सिर के बाल बिखरे, आँखें फटी थीं। सुराही का एक बड़ा-सा टुकड़ा उसके स्पन्दन-हीन हृदय पर पड़ा हुआ था, पेट फूल गया था, जीभ निकल आयी थी, ओंठ नीले पड़ गये थे। एक स्थान में वमन पड़ा था, पलँग के तकिये, चादर घर के चहुँओर इस तरह क्षिप्त थे कि मौत से वे सब युद्ध करते-करते हार गये हों और विजयी मृत्यु उनको दलती, रौंदती निकल गयी हो। नीलिमा के परिधेय वस्त्र के टुकड़े इधर-उधर फैले पड़े थे, बॉक्स उल्टा पड़ा था। चहुँओर एक विभीषिका छायी थी और

उस विभीषिका के बीच में, जमीन पर आँख फाड़े पड़ी थी नीलिमा। प्याले के तरेट में जरा-सा कुछ लगा था, एक गिलास पास में लुढ़का पड़ा था। अपने मुँह पर आँचल ढाँककर हरमोहिनी वहीं पर बैठ गयीं। अपराधिनी सन्तान की माता थीं वह, उन्हें रोने का अधिकार कहाँ था? सुकान्त सिहर उठा, मुँह फेर लिया। नहीं, उस दृश्य को देखने का साहस उनमें था नहीं। पपीहरा शव भी खड़ी रह गयी और कविता का संज्ञाहीन शरीर जमीन में लुढ़क रहा। डाक्टर आया। उस समय कमरे में नीलिमा के शव के सिवा एक व्यक्ति और था, जो कि सिर नीचा किये चुपचाप बैठा हुआ था। देखना कर्तव्य था; इसलिए डाक्टर ने मृत शरीर को घुमा-फिराकर देखा। उस प्याले में घुली अफीम को भी देखा। कहा—अफीम से आत्म-हत्या हुई है, प्राण निकले कोई तीन घण्टे हुए होंगे।

डाक्टर चला गया। बड़े घर की बात थी, दबा ली गयी।

केवल तीन घण्टे हुए इसे मरे—सुकान्त उस रुद्ध कमरे में मृत नारी के निकट बैठे विचारने लगे—तीन घण्टे पहले तक शायद यह माँ होने की खुशी में मस्त रही होगी और न-जाने वह कौन-सी विराट् लज्जा, कौन-सा विराग, कौन-सी वह ग्लानि उस खुशी को अजगर की तरह धीरे-धीरे निगलती चली गयी होगी। कौन-सी वह सर्वग्रासी उपेक्षा, निरादर, अवहेलना उस खुशी का गला दबा बैठी होगी, जिसमें कि तिल-तिल में घुट घुटकर उस खुशी की मृत्यु हो गयी होगी। किन्तु, फिर भी, शायद इस स्त्री के अन्तर की स्नेहमयी माता जीना चाहती रही होगी और उस आगतप्राय जीव के लिए आरती का दीप उजियार किया होगा।

कदाचित् अपने शिशु के बारे में इसने स्नेह से सोचा होगा—मेरे बच्चे के रूप में कहीं श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, राम-लक्ष्मण अरे कहीं कवि-गुरु तुलसीदासजी, कोई राष्ट्र का नेता, कोई विश्वप्रिय शिल्पी, कोई श्रेष्ठ चिकित्सक, कोई अमर वैज्ञानिक तो नहीं आ रहे हैं? और इसने तभी-तभी विचार लिया होगा—असम्भव बात ही इसमें कौन-सी है? हम नारियों ने तो एक दिन उनको जन्म दिया था और देती चली आ रही हैं। बस, इतना विचार लेने के बाद इसका मन गर्व, आनन्द से भर गया होगा।

किन्तु इसके बाद फिर भी पृथ्वी की विमुखता ने इसके हृदय के सारे सौन्दर्य,

स्नेह को चूम लिया होगा और उस विमुखता ने कल्याणमयी माता का गला घोंट दिया होगा। और उसके बाद? उसके बाद भी शायद इसने मौत को न चाहा होगा। सहारे के लिए एक छोटी-सी नौका ढूँढ़ती फिरी होगी। इस विशाल पृथ्वी के कोने-कोने में ढूँढ़ती फिरी होगी। और अवलम्बन के लिए जब एक तिनका भी न मिला होगा, तब इसने अकुलाकर मौत को पुकारा होगा, उसकी गोद में जाने के लिए विनय के साथ बाँह बढ़ा दी होगी। तब मौत भी इससे व्यंग्य कर पीछे हट गयी होगी। जीवित और मृतलोक की त्याज्य जननी नारी के नेत्र तब एक अपूर्व श्री से उद्‌भासित हो गये होंगे। और इसके बाद? इसके बाद ज्वालामुखी का अग्नि-कुण्ड फट पड़ा होगा और उसमें का हत्यारा दैत्य दोनों हाथ में अग्नि-स्फुलिंग लिये इनके सामने खड़ा हो गया होगा। उस आश्रय को देखकर गर्भवती एक बार काँपी होगी, पीछे हटी होगी, भागना चाही होगी। परन्तु फिर भी उस आश्रय को छोड़ न सकी होगी। दैत्य के हाथ से इसने प्याला ले लिया होगा, उसे मुँह से लगा लिया होगा। किन्तु फिर भी शायद यह जीना चाह रही होगी, उस आनेवाले शिशु को मन में प्यार किया होगा। उसे एक बार देखना चाहा होगा। पल-भर के लिए तृष्णार्त्त हृदय से लगा लेना चाहा होगा। उसके जन्मदाता पिता की गोद में क्षण-भर के लिए बच्चे को देना चाहा होगा और तब —उसने जीना चाहा होगा, जीना चाहा होगा। दैत्य के आश्रय को अस्वीकार कर तब इसने युद्ध-घोषणा कर दी होगी। इसने जीना चाहा होगा, जीना चाहा होगा। दैत्य से युद्ध करते-करते यह थक गयी होगी। एक पल में सब कुछ व्यर्थ हो गया होगा। एक नशे में मस्त यह पड़ रही होगी। अन्तिम समय कदाचित् इसने किसी एक को पुकारा होगा। और तन्द्रा आच्छन्न नेत्र बार-बार द्वार के प्रति उठे होंगे एवं निराश-व्यथा से दृष्टि मूर्च्छातुर हो गयी होगी।

अबसे लेकर तीन घण्टे पहले तक माता का हृदय शिशु के लिए व्याकुल रहा होगा। और सबसे पीछे? नहीं-नहीं, इसके भी पीछे की बात सुकान्त नहीं सोच सकते। आच्छन्न-से सुकान्त बैठे रह गये। खिड़कियाँ भीतर से बन्द थीं, दरवाजा भिड़ा हुआ था। और उसके भीतर समाधि लगाये बैठे थे जमींदार। सुकान्त को लगा, उसके चहुँओर अन्धकार था। सुकान्त उठने को हुए। कि-

फिर भी न-जाने क्यों वहाँ से हट न सके। लगा—कमरे के कोने-कोने में कोई फुसफुसाकर रो रहा है। उसने आँख पसारकर देखा—नहीं कुछ नहीं है। सुकान्त एकदम चकित हो गये। रोमांचित सुकान्त ने देखा—एक सफेद वस्तु कुछ दूर पर पड़ी है। उन्माद में सुकान्त देखने लगे—देखने लगे। बच्चा रो उठा—मिऊँ-मिऊँ। बच्चा—मेरा बच्चा, नीली का बच्चा!—एकदम सुकान्त के मन में आया—बच्चा जो कि रो रहा है—वह नीलिमा का है! उन्होंने जोर से आँखें बन्द कर लीं।—मिऊँ-मिऊँ पुकार इस बार बिलकुल उनके निकट से आ रही थी। अपने आप सुकान्त के नेत्र खुल गये। सीधे नीलिमा पर जा गिरी वह विह्वल दृष्टि। सुकान्त की विस्फारित दृष्टि उसी स्थान पर विमूढ़-सी हो गयी। उस विमूढ़ दृष्टि ने देखा, नीलिमा आँखें फाड़े उसे देख रही है और बच्चा उसके हृदय पर बैठा उसे पुकार रहा है—माँ—माँ! सुकान्त ने सुना—मिऊँ-मिऊँ—नहीं? वह पुकार रहा है माँ—माँ। बच्चा-बच्चा, नीला का बच्चा, मेरा बच्चा। ऐसा सफेद, रूई-सा सफेद, तुषार-सा शुभ्र।—नहीं-नहीं? मैं देख नहीं सकता। सुकान्त ने आँखें बन्द कर लीं। उन रुद्ध नेत्रों के भीतर एक नग्न रमणी साकार हो उठी और एक तुषार-शुभ्र बच्चे को गोद में दबाकर उनके निकट आकर खड़ी हो गयी। बच्चा पुकार उठा—मिऊँ-मिऊँ। सुकान्त के वस्त्र को धीरे से किसी ने खींचा। एक चीत्कार, उसके बाद जमींदार दरवाजे से टकराकर गिर पड़े। नीलिमा के कमरे में बिल्ली बच्चे दिये थे न।

जब राजा के बिना राज्य अचल नहीं होता है, तब नीलिमा-जैसी एक अभागिनी स्त्री की मृत्यु से जमींदार-परिवार सचल अवस्था में रह के सब लोग उदास रहे थे; किन्तु उन उदास महीनों के कटने के साथ-ही-साथ हँसी-खुशी, काम-काज ने अपना-अपना स्थान अधिकार कर लिया। केवल कविता का गाम्भीर्य जरा और बढ़ गया, हरमोहिनी के आँसू रात की चुप्पी में झरने लगे और उस दुखिया के लिए पपीहरा का दीर्घश्वास पृथ्वी के कोलाहल में छिप रह गया। कोई जान न सका, समझ न पाया, वरन् पृथ्वी धारणा भी नहीं कर सकी कि नीलिमा के लिए पिया के हृदय में कैसी व्यथा, सहानुभूति भरी हुई है। लोक-दृष्टि के बाहर वह उसके लिए रो लेती। यदि कोई पूछता तो कह देती—सर्दी से आवाज भारी हो रही है और आँखें फूली हैं।

उस दिन सवेरे से आकाश में काले मेंह के टुकड़े जम रहे थे। सन्ध्या होते तक बूँदे बरस पड़ीं।

कविता को काम-धन्धे से अवसर मिला तो पिया के कमरे में चली। अब पूरी गृहस्थी उसके सर पर थी, पर्दा हटाकर वह भीतर गयी, किन्तु द्वार के भीतर पैर रखते ही उसके पैर अचल-से हो रहे—इस चंचल स्वभाव की दुर्दान्त लड़की पिया को ऐसा कौन-सा आघात मिल गया, जिससे कि वह बाहर के कोलाहल को त्यागकर, एक ऐसी खुशी भरी सन्ध्या में घर के कोने में उदास बैठ सकी है? इस बात को विचारकर कविता का मन उदास हो गया। पिया वैसे ही खिड़की पर खड़ी रह गयी और कविता धीरे से उसके पास पहुँच गयी। किन्तु इस बार उसके विस्मय का ठिकाना न रहा। पिया रो रही थी—रो रही थी। पिया—पपीहरा रो रही थी। अपने विवाहित जीवन में कविता ने इस लड़की को सदा पाया है—एक छलकती हुई, गीत-मुखर नदी-सी,—आनन्द से इठलाती। शोक, दुःख, निरानन्द कहकर दुनिया में कोई वस्तु रह सकती है—ऐसा आभास उस हँस-मुख लड़की में कभी भी नहीं पाया गया था। सो ऐसा उलटा होते देखकर कविता को विस्मय के साथ व्यथा भी अनुभव होने लगी। विस्मय से वह सोचने लगी—ऐसी व्यथा को इस करुणी ने कहाँ छिपाकर रख छोड़ा था? वह ऐसा कौन-सा दुःख है, जिसने कि उस विजयी हृदय पर जय पा लिया है? इस शिशु स्वभाव वृद्धत्व कहाँ से आ गया? किन्तु वह वेदना तो सामान्य न होगी, जिसने कि इस हँसी की फुलझड़ी में आँसू की नदी बहा दी। ऐसे विचार उठते ही कविता एकदम सिहर उठी।

बड़े आदर से कविता ने पुकारा—पिया रानी!

जल्दी से पिया ने आँसू पोंछ लिये। हँसने के व्यर्थ-प्रयास से उसके मुख की रेखाएँ कुञ्चित होने लगीं। बोली—कब से पीछे खड़ी हो?

कविता चुप रही।

'बूँदें देखने में ऐसी लगी कि तुम्हारा आना नहीं जान सकी। कैसी सुहावनी बूँदें पड़ रही हैं काकू, देखती हो न?'

पिया की उस गोपन-वृत्ति ने कविता का मन और भी उदास कर दिया। इस गोपनता के आवरण में पिया एक साधारण स्त्री-सी लगने लगी और जिस

साधारण स्त्री से कविता की जान थी, न पहचान। इस पिया को स्वीकार करने में उसका जी दुखने लगा। कहा कविता ने—मेरी पिया, रानी पिया वेदना के किस अतल में तुम डूब रही हो? यह सब कुछ हम स्त्रियों को सोहाया है, तुझे नहीं सोहता पिया।

'तो मुझे क्या सोहता है? क्या मैं मर्द हूँ।'—पिया हँसने लगी।

'नहीं, मर्द में ऐसा साहस कहाँ है?'

अब पिया खिलखिला पड़ी—अरे, मर्द भी नहीं? नर नहीं, नारी नहीं, तो मैं हूँ कौन?

'एक उल्का।'

'उल्का? तो क्या पृथ्वी को भस्म करने के लिए मैं आयी हूँ?'

'नहीं, सब कुछ नियम बदल देने के लिए, और अपनी ही प्रचण्ड शिखा में स्वयं मस्त रहने के लिए। जीवन और मृत्यु, स्नेह-प्रेम की परिधि के बाहर, दूर—बहुत ऊपर उल्का का निकेतन है। तू एक उल्का है पिया।'

'और मेरी काकू है एक पहेली; जिसे सुलझाते-सुलझाते उल्का की शिखाएँ निस्तेज पड़ गयीं; किन्तु पहेली न सुलझ सकी।

कविता भी मुस्करा पड़ी—चलो अच्छा ही हुआ। पहेली सुलझाने में मेरी पिया लगी रहेगी। और देश-सेवा की धुन उसके सिर से निकल जायगी। अच्छा हुआ।

'सेवा? सेवा मैं कहाँ करती हूँ काकू?'

'सेवा नहीं तो यह क्या है?'

'इसे देश-सेवा नहीं कहते। कभी चली जाती हूँ बस। किन्तु इससे तुझे ऐसी तृष्णा क्यों है?'

'वितृष्णा नहीं रानी। डर कहो। मुझे सदा डर लगा रहता है।'

'डर लगा रहता है?'

'हाँ, डरती हूँ कि कहीं तू जेल न चली जाय।'

'जेल जाना कोई पाप है?'

'सो मैं नहीं जानती। जानती केवल इतना हूँ, मेरी सुखी पिया उस जीवन की कठोरता को न सह सकेगी। स्वास्थ्य बिगड़ जायगा?'

'ठहरो ठहरो। बात पूरी कर लेने दो। हाँ, स्वास्थ्य बिगड़ जायगा और पिया मर जायगी। बस इसी मृत्यु का तुम्हें डर है न काकू ?'

'हाँ, है। कौन मेरी दो-चार पिया हैं।' ऐंठकर कविता ने कहा।

'तो मरना ऐसा खराब, ऐसा डरावना कहाँ है काकू ! तुम डरती क्यों हो, एक दिन तो सबको मरना है न ?'

'मौत खराब नहीं है, डरावनी नहीं है ? कह क्या रही हो ? क्या दीदी की मृत्यु को ऐसी जल्दी भूल गयी ? उस हृदय के स्मरण से अब भी मेरा जी घबराने लगता है।'

'भूल तो तुम कर रही हो काकू। वह मौत नहीं, आत्म-हत्या थी और इसलिए उसके रूप को हमने वैसा कुत्सित, वैसा भयावह पाया था। तापस कुटीर की शान्त छाया में जो गहरी रात की एक धूमायित परछायीं पड़ जाती है, पर्वत के रन्ध्रों से जो एक तृतीय प्रहर की धूमिल रात्रि झाँकने लगती है, बस वही तो है मृत्यु का वास्तविक रूप। उस शान्त, निरुद्वेग, धूमिल मृत्यु में भय, डर कैसा ? वन के गहन में कभी गयी थी ? नहीं ! किन्तु यदि जाती और मध्याह्न वेला में कान लगाकर सुनती तो मृत्यु की लघु चरण-ध्वनि को वहाँ सुन पाती। उस ध्वनि में न उत्ताप रहता है, न उष्णता रहती है ; एक शान्त, निद्रालु श्री, मिष्ठ तन्द्रा—बस। वन के निविड़तम प्रदेश में जो एक तन्द्रा भरी रहती है, उससे यदि तुम्हारा परिचय हो जाता तो तुम जान जातीं, मृत्यु कैसी आच्छन्न-तन्द्रा की मिष्टता से भरी हुयी है। चलोगी काकू—मेरे साथ वन में ?'

'तू घने वन में कभी गयी थी ?'—कविता के कंठ में विस्मय था।

'अनेक बार।'

'ऐसा मत करना पिया।'

'क्यों ?'

'वहाँ जाने कितने हिंस्र जन्तु रहते हैं।'

'तो वहाँ न जाया करूँ ?'

'नहीं।'—कवि ने कहा।

अच्छी बात है।'

'इधर-उधर की बातों में तुम मुझे बहका रही हो पिया ! किन्तु उस बात को जाने बिना तुझे छुट्टी न मिलेगी ।'

'कौन-सी बात काकू ?'

'तेरे रोने का मुझे वैसा विस्मय नहीं है जैसा की उसे छिपाने का ।'

'किन्तु सब बात कहीं कही जा सकती है ?'

'मुझे विश्वास नहीं है पिया कि मुझसे छिपाने की कुछ बात भी तेरी रह सकती है ।'

'हे काकू !'— शान्त स्वर से वह बोली ।

देर के बाद कविता ने कहा—मैं कुछ-कुछ समझती हूँ पिया । किन्तु एक दिन तुम्हीं ने कहा था कि निशीथ के लिए तुम्हें रोने की जरूरत कभी न पड़ेगी ।'

पिया जोर से हँसी और देर तक वह हँसती ही चली गयी ।

'चुप रह पपीहरा ।'—खिसियाकर कवि ने कहा ।

'उन्हें क्यों खींचती हो ? यदि आज तुमने पिया की आँखों में आँसू देखे भी हो तो भूल जाओ । सच कहती हूँ आँसू का घोषाल से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है । उनके लिए मैं रोऊँगी ? पागल हो गयी हो ?'

'ऐसा ? पर मैंने समझा उस स्टेशनवाली बात के स्मरण से तुम्हें रोना आ गया हो । वैसी अवहेलना—।

पिया ने गर्व से उसकी ओर देखा—बस करो । क्या तुमने मुझे एक भिखारिन समझ रखा है ? किसी के आदर और उपेक्षा का मूल्य तुम्हारी पिया के पास एक-सा है । समझीं मेरी काकू ?

लजाकर कविता ने कहा—सो मैं जानती हूँ । आज तो मेरे आँसू ने धोखा दिया । पर निशीथ ऐसा अभद्र है सो मैं नहीं जानती थी ।

'अभद्रता इसमें क्या है, वरन् मैं उनकी उस भद्रता को सम्मान की दृष्टि से देखती हूँ । क्या तुम आशा करती हो, चाहती हो, एक विवाहित पुरुष, सन्तान का पिता, दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगे ? जिससे विवाह हो नहीं सकता, मिलन असम्भव है, उसे वह प्रलोभित करता रहे ?'

'किन्तु उस दिन तो एक कुमारी के हृदय की गोपन-कथा सुनने में उन्हें

जरा भी झिझक न हुई थी, उस भद्र पुरुष ने एक बार भी उस कुमारी को कहने से रोकने की चेष्टा भी तो न की थी। उसने रोका क्यों नहीं? यदि न रोक सका था तो उठकर चला क्यों न गया? यदि ज्वर से तू बेसुध थी, फिर वह तो सुध में था न?'

'मनुष्य मात्र में एक दुर्बलता रहती है। एक ईश्वर है—कदाचित् उसमें दुर्बलता का स्थान न हो। मुझे तो सन्देह होता है काकू, कि ईश्वर की दुर्बलता के परे न होगा। प्राणी मात्र में दुर्बलता है, फिर मिस्टर घोषाल उस दुर्बलता से बचे कैसे रहते?'

'नहीं, बड़े अच्छे हैं।'—कविता झुँझला पड़ी।

'चिढ़ती हो? फिर सच तो ऐसा ही दुखद होता है काकू।'

'बड़ी आई सच कहने को। मैं पूछती हूँ कि दुनिया में सभ्य और सुन्दर मनुष्य की कमी नहीं। फिर तूने क्यों उसे ही चुन लिया और उसके दरवाजे पर अपना सब कुछ लुटा बैठी।'

'फिर भी वही पुरानी बातें। अरे तो क्या प्रेम ने मुझसे पूछकर, छानबीन कर अपना आधार पसन्द कर लिया था? मैं फिर भी कहूँगी काकू कि उसके पसन्द की रुचि पर मुझे जरा-सा भी पश्चात्ताप, खेद, दुखः कुछ भी नहीं है। मैं सुखी हूँ, सन्तुष्ट हूँ। जो कुछ मैंने पाया है या न पाया है, उतना मेरे लिए बहुत है।'

कविता चुप रही।

'क्या सोच रही हो?'—पपीहरा ने पूछा।

'उसी की बातें?'

'उसकी बातें?'

'हाँ-हाँ उसी की बातें। चाहे वह कुछ भी हो, किन्तु स्टेशन पर उन दोनों पति-पत्नी का बर्ताव अत्यन्त असभ्य जरूर था। और उसके बाद अन्ततः भद्रता के नाते उन्हें यहाँ पर आना अवश्य उचित था।'

'और आकर विनय-शिष्टता से क्षमा-प्रार्थना कर नाटक की सृष्टि करना भी अवश्य उचित था। किन्तु चाहे वह कुछ भी हो। वह आये थे और दो बार आये थे-।'

'अपने घर ?'

'अपने ही घर आये थे काकू, एक बार पहले और दूसरी बार नीलिमा काकी की मृत्यु के बाद।'

'मैंने कुछ नहीं जाना।'—सन्देह से कविता ने कहा।

'पहली बार काका के पास बैठकर चले गये। मैं उस वक्त सिनेमा के लिए तैयार हो रही थी। दूसरी बार तुम्हारे साथ पार्टी में गयी हुई थी। और अब तो छुट्टी में हैं, बीमार हैं न!'

'उनकी सब खबरें तुम रखती हो पिया; मुझसे कभी कहा नहीं ?'

'भूल गयी होऊँगी।'

देर तक उसे निश्चल नेत्र देख-देखकर कविता ने पुकारा—पिया!

'काकू!'

'तेरा जी चाहता है उसे देखने के लिए—?'

'धत्'—पिया ने काकी को हलकी-सी चपत मार दी। कविता घबराकर बोली—अरे बाप रे। तुझे तो जोर से ज्वर चढ़ा हुआ है।

'नहीं-नहीं।'—सर हिलाकर वह आपत्ति करने लगी।

'देखें-देखें। देह तो आग हो रही है। अभी मैं बाहर खबर देती हूँ। डाक्टर को बुलवा भेजें।'

'काका से अभी कुछ मत कहना काकू! कई दिन से बुखार चढ़ रहा है। आप निकल जायगा।

'कई दिन से ? तो मुझसे कहा क्यों नहीं ?'

'यदि कहती तो तुम मुझे बाहर न जाने देती। दवा पिलाती—वही कड़वी दवा।'

नहीं, अब बाहर नहीं जाना है।'—डॉटकर कविता ने कहा।

'जरा-सा जाना है।'

'बहुत हो गया। चलो पलँग पर। कहीं आना-जाना नहीं है। अभी डॉक्टर को बुलाती हूँ। उठो पपीहरा।'

'अभी लौटूँगी काकू।'

'नहीं, कुछ नहीं। चलो उठो।'

पिया उठी और सुबोध बालिका-सी पलंग पर पड़ रही।

[३२]

रात में आठ की घण्टी बज गयी और नौ बजने को हुए, किन्तु तब भी पपीहरा घर न लौटी। कविता अधीर होने लगी। लज्जा, संकोच कुछ न रह पाया, उन्मादिनी की भाँति पति के कमरे में चली गयी। व्याकुल स्वर से कहने लगी—मेरी पिया को ला दीजिए।

'पिया को ?'—अचम्भे से सुकान्त ने पूछा।

'अभी आती हूँ, कहकर वह छः बजे चली गयी थी, अबतक आयी नहीं !'—एक अनजान अमंगल आशंका से कविता का जी घबरा रहा था।

'वैसे बुखार में तुमने उसे जाने क्यों दिया ? मुझे खबर क्यों न कर दी ? डाक्टर ने उसे उठने तक को मना कर दिया था। उसका ज्वर कुछ सन्देह-जनक है।'

'सन्देह-जनक ! कैसा सन्देह ?'

'घबराओ नहीं ! डाक्टर कुछ साफ तो बोले नहीं। बात-चीत से मालूम पड़ा कि बुखार सीधा नहीं है। मैंने बहुत पूछा।'

'कुछ नहीं है, डाक्टर झूठा है।'

जमींदार पत्नी का मुँह निहारने लगे।

'झूठा है डाक्टर— झूठा-झूठा। मेरी पिया को कुछ नहीं है। मलेरिया है। दो दिन में वह अच्छी हो जायगी। आप उसे ढूँढ़कर लाइए। मैंने बहुत रोका। उसने सौगन्ध रख दी। कहने लगी—काका से मत कहो। मैं अभी आयी, मीटिङ्ग है। वहाँ मुझे एक मिनट के लिए जरूर ही जाना है।'

विवर्ण मुख से सुकान्त खड़े हो गये—ऐसे बुखार में, और ठण्ढ में वह गयी, उसे जाने क्यों दिया ? बूँदें पड़ रही हैं। उसे जाने क्यों दिया ? मैं अभी उसे लाता हूँ।'

वह कहीं पर भी न मिलेगी।'

कहीं पर भी न मिलेगी !'—विस्मय से सुकान्त ने पत्नी की बात दुहरायी।

'नहीं मिलेगी। मैं कहती हूँ तुम सीधे पुलिस-आफिस में चले जाओ, वह जेल में मिल जायगी।'

'घबराओ नहीं। पृथ्वी के कोने-कोने से उसे खोज निकालूँगा। उसके लिए मैं सब धन लुटा दूँगा। मेरी बीमार लड़की।'

सुकान्त की गाड़ी हवा से बाजी लगाकर दौड़ी। जेल से लेकर शहर के कोने-कोने में सुकान्त अपनी लाड़ली लड़की को खोजते फिरने लगे। उसका पता न चला—न चला। रात बढ़ने लगी और आँधी-पानी से पृथ्वी मथित-सी होने लगी।

मुश्किल से पता चला कि आपत्ति-जनक भाषण देने के लिए पिया को पकड़ लिया गया था और डरा-धमकाकर उसे शहर से जरा बाहर छोड़ दिया गया था। बस।

सुकान्त को शहर के प्रायः सभी व्यक्ति जानते थे और आदर-सम्मान करते थे। उनकी ऐसी विपत्ति में मित्रों ने उनका साथ दिया और उनको समझाते हुए पिया को खोजने लगे।

कोई बोला—आप घबरायें नहीं। लड़की किसी मित्र के घर होगी, आँधी-पानी को भी तो देखिये। ऐसी रात में शायद घर तक जाना सम्भव न हुआ हो, या कोई सवारी न मिली हो, और फिर बीमार लड़की।

किन्तु ऐसी बातों से सुकान्त का उद्वेग घटा नहीं, वरन् बढ़ने लगा। वह भली-भाँति जानते थे, पिया चाहे हठी हो, दुर्दान्त हो, जिद्दी हो; किन्तु रात में घर छोड़कर वह बाहर नहीं रह सकती। तो बाहर रहने का उसके सामने यह जो अवसर आ पड़ा—यह तो सामान्य न होगा। नहीं, वरन् विपद्पूर्ण होगा। कहीं लड़की मारे ज्वर के आँधी-पानी में बेहोश तो न पड़ी होगी? ऐसे-ऐसे विचारों से सुकान्त उन्मादे-से हो गये। कभी घर पर दौड़ जाते, कभी गहरी निराशा से बाहर अँधेरे में उसे ढूँढ़ते फिरते। कभी गुनगुनाकर कहते—मेरी बीमार लड़की, बीमार लड़की!

आँधी-पानी से मशालें बुझ जातीं, तो पन्द्रह-बीस टार्च से काम चलता। उधर रात गहरी होती औ इधर सुकान्त की अधीरता बढ़ती जाती थी। उधर पिया की दशा कुछ और ही थी।

समझा-बुझाकर, डाँट-फटकारकर उसे शहर से बाहर छोड़ दिया गया। उस समय पानी कम बरस रहा था। पपीहरा का ज्वर अधिक हो रहा था, वैसा ही सिर में दर्द। वह चलने को हुई तो चक्कर आ गया। बैठ गयी। फिर उठी और बैठी। इसी तरह घण्टे बीत गये। पिता के साथी-साथिनों को भी पता न

चल पाया कि पिया को कहाँ ले जाया गया है। जब पिया प्रायः शहर तक पहुँची तब आँधी पानी ने जोर किया।

पानी में भींगी, काँपती, ठिठुरती बेसुध पिया को घर का पता न लग सका। उस अँधेरे में वह भटकने लगी।

निशीथ का बँगला शहर से बाहर था।

भूली-भटकी, प्रायः हतचेतन पिया उस बँगले के द्वार पर पहुँच गयी। वह जान तक न सकी कि यह निशीथ का बँगला है।

किसी तरह पहुँची तो द्वार पर गिर पड़ी। उस रात में मृणाल और निशीथ को नींद न थी। प्रकृति की उस ताण्डव-लीला को देख-देखकर मृणाल भीत हो रही थी और निशीथ निकट में बैठा हँस रहा था। गिरने के शब्द से वे दोनों चौंके। टार्च लिये निशीथ ने द्वार खोला। टार्च का प्रकाश उस बोध-हीन नारी के मुँह पर पड़ गया। उसे पहचानने के साथ-ही-साथ ऐसा चौंका कि हाथ का टार्च जमीन पर गिर पड़ा। ऐसा विस्मय उसके जीवन में प्रथम बार था। मृणाल ने भी पिया को पहचान लिया। उसके हृदय में जोर का एक धक्का पहुँचा। अभी-अभी तो वह पति के प्रेम, स्नेह, सोहाग से मतवाली, दुनिया को भूली बैठी थी और एक नशीले स्वप्न में मस्त हो रही थी। फिर अभी यह क्या हो गया? अस्वस्थ पति ने अपनी लम्बी दो माह की छुट्टी तो केवल उसी की तुष्टि में व्यय कर दी है न। पति-पत्नी के बीच में जो कुछ मनोमालिन्य आ गया था, वह तो प्रायः धुल चुका था। अपने दीर्घ विवाहित जीवन में, गम्भीर प्रकृति, अल्पभाषी पति के निकट जो वस्तु न मिल सकी थी और जिस उच्छ्वसित आदर, प्रगल्भ प्रेम, रन्ध्रहीन पति के संग के लिए, निविड़ आलिंगन के लिए वह सदा व्याकुल, असन्तुष्ट रहा करती थी, वही उच्छृङ्खल प्रेम उसे इन थोड़े से दिनों में मिल गया था। उस प्रेम में डूबी वह सब कुछ भूल गयी थी; तो एक भरे हुए दिन में, तृप्ति का शेष श्वास जब उसे लेना था, तब पृथ्वी का यह विद्रोह कैसा?

अभी कुछ पहले तक मृणाल सोच नहीं सकी थी कि एक पल के भीतर फिर से उसे अपने उस अभिशप्त अतीत में लौट जाना पड़ेगा। मृणाल के हृदय में एकदम आग-सी जल उठी। उसे लगा, पति और पिया ने मिलकर खासा

षड्यन्त्र रच रखा है। और तभी तो उसे भुलावा देने के लिए उनका आदर-प्रेम ऐसा बढ़ गया था न। पल में उसके मस्तिष्क में अनेक विचार उठ पड़े—देखो तो कैसी प्रतारणा है। मृणाल सोचने लगी—वे बोले थे—वे लोग सब चले जा रहे हैं। और मैंने भी स्टेशन पर इन सबको देखा था। तो वह सब मुझे दिखाने के लिए था। पिया कहीं गयी नहीं। मृणाल की कल्पना विकृत रूप में आगे बढ़ी और उस विकृत कल्पना ने उसे अन्धा बना दिया। मिथ्या को वास्तव कर दिया। एक ही पल में उसके नेत्र के सामने एक रुद्ध कमरे का दृश्य सजीव हो गया। एक रुद्ध कमरा फूल की सुगन्धि से आमोदित हो रहा है। झालरदार तकिये पर पति अधलेटे हुए पड़े हैं और उनके अंग में पड़ी तरुणी हँस-हँसकर उनके गले में बाँह डाल रही है। पुष्प-गुच्छ एवं गजरे यहाँ-वहाँ विक्षिप्त पड़े हैं, इन्हीं फूलों से तो अभी-अभी इन दोनों ने खेला था न। तरुणी कोई दूसरी थोड़ी ही थीं। वह थी पपीहरा! पिया ने फूल का हार उन्हें पहनाया होगा और आदर से इन्होंने उसका मुँह—

मृणाल एकदम तिलमिला उठी—तिलमिला उठी। नहीं, वह और कुछ नहीं सोच सकती, नहीं सोच सकती। आज यह क्यों चली आयी? मृणाल ने विचारा—इसलिए कि आज गये न होंगे, तो दौड़ी आयी। चुड़ैल! मृणाल एकदम चिल्ला पड़ी—उठो-उठो, चली जाओ यहाँ से। सुनती हो? चली जाओ।

स्विच दबाकर निशीथ ने लाइट जला दी थी। मृणाल ने पिया का सिर हिलाया।

पिया ने आँखें खोल दीं। उसकी आँखें लाल हो रही थीं।

पिया की दृष्टि निशीथ के मुँह पर चली गयी और वहीं निबद्ध हो रही।

पानी कम हो चला।

क्लिष्ट स्वर से निशीथ ने पत्नी से कहा—शायद पिया देवी का जी अच्छा नहीं है। ठहरो मृणाल, मुझे जरा देख लेने दो।

'चाहे वह बीमार हो, तुमसे उसका क्या सम्बन्ध? जाओ, तुम भीतर जाओ।'

निशीथ ने जाने की चेष्टा न की।

पिया के कान के पास चिल्लाकर मृणाल कहने लगी—सुनती हो, जाओ

यहाँ से। यदि मरना है तो पेड़ के नीचे जाकर मरो। मैं बच्चों की माँ हूँ। गृहस्थ का अकल्याण मत करो।

पिया के कान में शायद कुछ शब्द पहुँचे। पल-भर के लिए उसका बोध कुछ लौटा-सा।

'जाती हूँ।'—पूरी शक्ति लगाकर, बड़ी कठिनाई से वह उठी। निशीथ उसका पथ रोककर खड़ा हो गया। पत्नी से बोला—पागल मत बनो मृणाल। जरा-सा मनुपत्व बच नहीं पाया है तुममें? ऐसी रात में, आँधी-पानी में एक स्त्री कहाँ जायगी?

'कहाँ जायगी, सो मैं क्या जानूँ?'

पिया की ओर निशीथ लौटा—पिया देवी, चलो, कमरे में लेट रहो। मैं घर पर खबर किये देता हूँ और गाड़ी भी अपनी है। ड्राइवर घर चला गया है तो मैं तो हूँ।

पिया कुछ सहमी-सी।

'तुम अपने घर जाओ पपीहरा।'—मृणाल असहिष्णु हो रही थी।

पूर्णदृष्टि से पिया ने निशीथ को देखा—जाती हूँ, घोषाल।

'जाती हो! कहाँ जाओगी? ऐसे आँधी-पानी में मैं तुम्हें जाने क्यों दूँगा?'

'न जाने दोगे? किन्तु रखकर भी मुझे क्या करोगे? जाती हूँ।'

'अरे कैसे जाओगी?'

'गाड़ी बाहर खड़ी है।'—गाड़ी की बात पिया झूठ बोली। अपने अशक्त पैरों को किसी तरह खींचती वह बगीचे के बाहर चली गयी—चली गयी। काका की दुलारी बिटिया, उस अँधेरी रात में, आँधी-पानी से द्वन्द्व करती चली गयी—चली गयी।

निशीथ विस्मित हुआ। गाड़ी खड़ी करके, ऐसी आँधी-पानी की रात में वह उसके निकट किसलिए आयी थी? यदि आयी थी तो कुछ बोली क्यों नहीं? और वह गिर क्यों पड़ी थी? शायद अँधेरी में उसे ठोकर लग गयी हो। किन्तु वह ऐसी कमजोर क्यों दिख रही थी? उसकी आँखें लाल क्यों थीं? क्या वह बीमार थी? अभी तो बीमार नहीं है! बीमार नहीं है? सोचने के साथ-ही-साथ निशीथ का चित्त अत्यन्त असच्छन्द हो उठा। उसे प्रबल इच्छा होने लगी—

उस अँधेरी रात में वह दौड़ा-दौड़ा सुकान्त के घर चला जावे और सब कुछ देख-सुनकर लौट आवे।

मृणाल बोली—बहुत सर्दी है, भीतर चलो।

निशीथ भीतर चला गया। पलंग पर पड़ा। निशीथ ने विचार पक्का कर लिया—कल प्रातःकाल सर्वप्रथम वह पिया की खबर लेने को जावेगा।

[३३]

रात-भर निशीथ की पलकों में नींद न आयी। प्रातःकाल की झिलमिली में वह उठा। जल्दी से हाँथ-मुँह धो लिये, कपड़े बदले और पिया के घर के लिए चल पड़ा।

फाटक के बाहर आकर निशीथ स्तम्भित-सा रह गया। पथपार्श्व के अश्वत्थ वृक्ष के नीचे कुछ मनुष्य एक पड़े हुए शरीर को घेरे खड़े थे और निकट में कई कारें खड़ी थीं।

जाने कैसी एक आशंका से निशीथ की नसें ढीली पड़ गयीं। न तो वह आगे बढ़ सकता था और न वहाँ खड़ा रह सकता था। गेट पकड़कर वह खड़ा काँपने लगा।

पिया के तुषार-शीतल शरीर को गाड़ी पर उठाते वक्त निशीथ के व्याकुल कण्ठ का प्रश्न लोगों ने सुना—उसे कहाँ लिए जाते हो?

विस्मित नेत्र से सबने उसे देखा।

निशीथ फिर पूछा—अभी प्राण है उसमें?

'जीवित हैं अभी तक पिया देवी। किन्तु महाशय, वह बीमार थीं, उस पर रात-भर भींगी है। अब तो ईश्वर ही पर सब कुछ निर्भर है।'

मृणाल की सतर्क दृष्टि ने पति की बातें देखने-सुनने में भूल न की। वह निशीथ के निकट आकर खड़ी हो गयी। सामने से उस दृश्य को देखकर वह सिहरी। और अधिक आश्चर्य तो यह है कि जिस पिया को उसने पेड़ तले पड़कर मृत्यु का परामर्श दिया था, उसी पिया के चेतनाशून्य, शिथिल शरीर को देखकर वह विकल हो पड़ी। कदाचित् उसके जीवन के लिए वह एक बार ईश्वर से प्रार्थना भी कर उठी—प्रभु, बेचारी लड़की को अच्छा कर दो। मैं तुम्हें छिपाकर प्रसाद चढ़ा दूँगी, कथा सुन लूँगी।

गाड़ी पर पिया को लिटा दिया गया और गाड़ी चली गयी।

अब एक सीमाहीन लज्जा, ग्लानि ने मृणाल के मन को आच्छन्न-सा कर दिया। अपने आचरण को वह धिक्कारने लगी। यदि कल वह वैसा नीच, हृदयहीन व्यवहार न करती तो उसका सब कुछ बना रहता। अचानक मृणाल के मन में हुआ—यदि पिया न जिये! आतंक, व्यथा से उसका जी भर आया। यदि वैसा होगया तो वह पति के सामने खड़ी कैसे होगी? ईश्वर से प्रार्थना करने लगी—मेरा सब कुछ तो छीन लिया है, अब पति के सामने सिर ऊँचा करके खड़े होने का अधिकार न छीनों प्रभु। कुछ तो मेरे लिए रहने दो। एक हत्यारिनें के रूप में मुझे पति के सामने मत लाओ। इतनी जरा-सी कृपा करो प्रभु, मैं बड़ी अभागिन हूँ।

निशीथ को मृणाल ने धीरे से पुकारा—भीतर चलो। किन्तु निशीथ के कान तक बात पहुँची नहीं। उसके कान में वह शब्द भरे थे—बीमार थी, उस पर रात-भर पानी में भींगी हैं। अब तो ईश्वर ही रक्षा करे।

भीतर गये वे दोनों।

मृणाल को बड़ी इच्छा होने लगी, पति से कहे कि जाकर पिया की खबर ले आओ। किन्तु निशीथ के अस्वाभाविक गम्भीर मुख के सामने वह कुछ भी न कह सकी। अपराधिन जैसी वह दूर हटी रही।

देर के बाद मृणाल निशीथ के सामने गयी, बोली—पपीहरा को देखने चलूँगी। तुम मुझे वहाँ ले चलो।

शान्त स्वर से निशीथ ने कहा—अपने खेल को अपने ही पास रखो मृणाल।

'अपने खेल को!'

'हाँ, अपने खेलों को। किसी के जीवन को लेकर खेलने का अनुरोध अब मुझसे न करो। तुम्हारे अद्भुत खयाल को मिटाने जाकर, तुम्हारी अनर्थक ईर्ष्या को शान्त करने जाकर, कल रात जिसे मौत के मुँह में मैंने ढकेल दिया है, उसे अब सहानुभूति जताने जाना व्यर्थ है। और न इसकी कोई जरूरत ही है। समझीं मृणाल? मेरे हाथ की मौत—चाहे वह भली हो या बुरी, वह उसे ही श्रेष्ठ वरदान समझकर उठा लेगी, उद्वेग की जरूरत नहीं। तुम निश्चिन्त रहो, वह हँसकर उस मौत को ले लेगी।'

पतिकी बातें वह सुनती जाती थी और धैर्य का बाँध टूटता जाता था। कुछ देर पहले उस हृदय में पगीहरा के लिए जो सहानुभूति, करुणा उमड़ पड़ी थी, उस करुणा का शेष बिन्दु तक बाध्य होकर उड़ गया। तीव्र स्वर से वह बोली— मैं नीच हूँ, ईर्ष्यालु हूँ, अपराधिन हूँ। सब कुछ ठीक है और इसे मान भी लेती हूँ। किन्तु मैं तुम्हीं से पूछती हूँ—क्या यह निरपराध है? क्या उसने दूसरे पति को नहीं चाहा? क्या उसने मेरे पति को पराया नहीं कर दिया?

'तुम्हारे पति को उसने नहीं, तुमने पराया कर दिया है मृणाल। यदि उसने चाहा था तो उस चाह में कल्याण ही कल्याण था, ध्वंस का मन्त्र नहीं। उसके चहुँओर लहू के जो अक्षर थे, कभी उन्हें पढ़ने की चेष्टा की थी तुमने? नहीं, उन्हें तुम नहीं पढ़ सकती थीं क्योंकि उनके पढ़ने के योग्य तुम हो नहीं। उसके चहुँओर क्या कभी तुमने यौवन की चपलता को हिलोरें मारते पाया था? नहीं, यदि आँख पसारकर देखती तो उस युवती के चहुँओर जीवन के गाम्भीर्य को तुम स्तवन करते हुए पाती। छोटा-सा मन लेकर, किसी परिधि में बाँधकर तुम पिया को नहीं समझ सकती हो मृणाल। उसे समझने के लिए एक बड़ा मन चाहिए। आकाश के ध्रुवतारे को देखा है तुमने? सृष्टि के परे उस प्रज्वलित हेम-शिखा की कल्पना तुम कर सकती हो मृणाल? यदि नहीं, तो तुम पिया को भी नहीं समझ सकती हो। वह पृथ्वी का ध्रुवतारा है, सृष्टि के परे की हेम-शिखा है। आयी है अपनी शिखा में आज विकीर्ण होने के लिए और पृथ्वी को कल्याण का पाठ देने के लिए। उसे पाना तो दूर की बात है, मुझमें ऐसी शक्ति कहाँ जो उसे स्पर्श करता?'

निशीथ के मित्र सुरथ ने पुकारा—घर में हो निशीथ?

सन्ध्या हो गयी थी, निशीथ बैठक में चुपचाप बैठा था।

'आओ।'—निशीथ ने कहा।

सुरथ कुर्सी पर बैठ गया—अब तो अच्छे हो न?

'हाँ, अच्छा हूँ।'

'बहुत दिन से आया नहीं तो आज चल पड़ा, किन्तु रास्ते में देर लग गयी।'

'काम पड़ गया होगा।'

'नहीं भाई। बहुत-सी गाड़ी, मोटरों को सुकान्त बाबू के दरवाजे पर रहते

देखकर भीतर चला गया। भीड़ लगी हुई थी। एक तो बड़े आदमी की दुलारी लड़की, उस पर देश-सेविका। डाक्टर, वैद्यों से घर भरा हुआ था, शहर का शहर दरवाजे पर इकट्ठा था, किन्तु कुछ न हो सका।'

'वह चली गयी?—निशीथ एकदम चौंक पड़ा।

'हाँ, लड़की चल बसी! अहा, बेचारे काका-काकी दोनों पागल हो रहे हैं। पपीहरा की बहन, बहनोई भी पहुँच गये थे। बहनोई बिभूति भी औरतों जैसा चिल्ला-चिल्लाकर रो रहा है, बहन बेचारी बेहोश है, सुना है वह छः-सात दिन से बीमार थी और उसी अवस्था में मिटिंग में चली गयी थी, वहाँ भाषण भी दिया था। इधर घर के लोग उसे रात-भर ढूँढ़ते फिरे। सबेरे अचेतन वह किसी पेड़ के नीचे पड़ी मिली। कहते हैं घर में जाकर उसे एक बार होश आया था। बोली थी—जाती हूँ। और बस उसके बाद मृत्यु हो गयी।

सुरथ और भी न-जाने क्या-क्या कह गया, किन्तु सब बातों को सुनने योग्य मन की स्थिति उस वक्त निशीथ की थी नहीं।

निशीथ विचार रहा था—चली गयी, वह चली गयी। आयी थी, वह शेष मुहूर्त में प्रेम का दावा लेकर—उसी के दरवाजे पर आयी थी। मृत्यु से कदाचित् उसने विनय की होगी, नहीं-नहीं विनय कैसी? उसने तो दो मिनट ठहरने के लिए मृत्यु को आज्ञा दे दी होगी, विश्व की रानी की तरह आदेश दिया होगा कि अभी दो मिनट ठहर जाओ। और चली आयी थी—उससे बिदा लेने।

और उसने पिया को क्या दिया था?

उस गहरी अँधेरी रात में, आँधी-पानी से डूबती हुई सृष्टि के भीतर उस अस्वस्थ नारी को ढकेल दिया था और आप नरम-नरम गद्दे पर सो रहा था। पृथ्वी में कदाचित् जिसने उसे सबसे अधिक चाहा था, उसकी कर दी उसने अपने हाथों हत्या। कैसी विचित्र वार्ता है।

सुरथ बोला—अच्छा तो नमस्कार। जाता हूँ, हो सका तो फिर मिलूँगा।

निशीथ ने न प्रति-नमस्कार किया, न उत्तर दिया। वह खुली खिड़की से नीलाकाश को निहारता रह गया।

[३४]

मृत्युलोक में यदि आँसू का कोई मूल्य रहता तो जमींदार-परिवार के उस

बाढ़ जैसे आँसू पपीहरा को वहाँ से खींचकर लाते जरूर। किन्तु वहाँ तो आँसू का कोई मोल ही नहीं रहता, फिर पिया के लिए यदि कोई परिवार आँसू के कुण्ड में डूबा रहे तो इससे लाभ-हानि क्या? सुकान्त-परिवार को दिन काटना था तो किसी तरह रोते-कलपते दिन कट रहे थे। इसी तरह दो महीने निकल गये।

सुकान्त का वसीयतनामा तैयार हो गया, जिसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति कविता को दान कर दी थी। वसीयतनामे की रजिस्टरी हो गयी तो उन्होंने कविता को बुलाया। द्विविधा किया-न-किया, फिर परिष्कृत कंठ से वह बोले—मेरी सुकृति और दुष्कृति सब कुछ तुम्हें सौंपकर आज विदा हो रहा हूँ कविता!

'आप कहाँ जा रहे हैं?'—मूर्तिमान् शोक की भाँति कविता ने उनके सामने खड़ी होकर पूछा।

'बैठ जाओ—गिर पड़ोगी। मैं जा रहा हूँ—बस जानता इतना ही हूँ। कहाँ जा रहा हूँ सो मैं नहीं जानता। पिया के बिना यह घर हमें काटने को दौड़ रहा है। अभी तो देश देखता फिरूँगा। यह लो, इसे सन्दूक में रख देना।'

'यह क्या है?'—हाथ का कागज हिलाती हुई कविता ने पूछा।

'सम्पत्ति का वसीयतनामा।'

'इसे लेकर मुझे क्या करना पड़ेगा?'

'मालिक तुम हो, जो जी में आवे सो करो।'

उसने उदास व्यथा से कहा—इतने धन को लेकर मैं अकेली स्त्री क्या करूँगी? आप किसी भले काम पर इसे दान कर दीजिए। और यदि उचित समझें तो यमुना को कुछ दे दीजिए।

'धन पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि तुम चाहो तो उसे कुछ दे दिया करो। किन्तु मेरे विचार से उसे ज्यादा देने से विभूति सब उड़ा डालेगा। यदि कभी कुछ दे दिया करो तो ठीक होगा। दूसरी बात—मेरी बड़ी अभिलाषा है प्रतिवर्ष मेरी पिया की मृत्यु के दिन दरिद्र भोजन का विराट् आयोजन हुआ करे और इसलिए धन की जरूरत है। यदि सब दान कर दिया जायगा, तो यह काम कैसे हो सकेगा?'

कविता का मुख प्रसन्न हो गया। बोली—बड़ी अच्छी बात है।

'हाँ, और उस अच्छी बात को प्रतिवर्ष निभाने के लिए, एवं जमींदारी की

देख-भाल करने के लिए एक देवी की जरूरत थी, इसीसे उस देवी को मैं सब कुछ सौंपे जाता हूँ।'

कविता का जी चाहने लगा कि वह चिल्लाकर कहे—मुझे देवीत्व की जरूरत नहीं। इस दुखी जीवन को लेकर मैं एकान्त में रहना चाहती हूँ। इस विडम्बित जीवन को लेकर दुनिया के किसी अँधेरे कोने में मुझे पड़ी रहने दो, जहाँ दिन का प्रकाश न पहुँच सके, एक पक्षी भी न पहुँच सके, जहाँ अन्धकार रहे—केवल अन्धकार, निविड़तम अन्धकार। सम्पद् के सिंहासन पर बैठाकर, कर्तव्य की बेड़ी पैर में डालकर अब मुझे अभिशप्त मत करो। किन्तु वह कुछ न कह सकी। उसके देवीत्व ने उसका गला दबाया और वह कुछ न कह सकी। चुपचाप पति का मुँह निहारने लगी।

'कबतक आप लौटेंगे?'—देर के बाद उसने पूछा।

'लौटने का विचार तो अब बिलकुल नहीं है; किन्तु यदि तुम कहो तो फिर मुझे लौटना पड़ेगा। दुनिया जानती है, तुम-हम पति-पत्नी हैं, किन्तु मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो! जानता हूँ, देवी हो और देवी ही रहोगी। और ऐसी आशा भी करता हूँ कविता! कि जाने से तुम मुझे रोकोगी नहीं। वरन् प्रसन्नचित्त से अनुमति दे दोगी।

देवी है—वह—देवी—देवी, न भार्या न माता—न सहधर्मिणी, न प्रिया, न प्रेयसी, सखी भी नहीं, केवल देवी, देवीत्व। कविता का श्वास हृदय में घुट-घुटकर मरने लगा। गला फाड़कर उसका कहने को जी चाहने लगा—जी चाहने लगा—मैं केवल देवी ही नहीं हूँ, स्वामी, और भी कुछ हूँ। जरा मुझ अभागिनी को पृथ्वी के भले-बुरे के भीतर भी तो देखना सीखो।

'तो अनुमति तुम दे रही हो न कविता?'

'नहीं।' दृढ़ स्वर से उसने कहा।

'क्या कहा?'—अखण्ड विस्मय से सुकान्त बोले।

'नहीं, नहीं—इस अकेले घर में मैं नहीं रह सकती।'

'आज मैं क्या सुन रहा हूँ कविता? वरदान की बेला यह विमुखता कैसी?'

'एक मानवी के भीतर आप देवीत्व को कहाँ ढूँढ़ते फिर रहे हैं?'

'मानवी नहीं, तुम देवी हो।'

'देवी ही सही। किन्तु देवी तबतक देवी रह सकती है जब कि कोई उसका उपासक रहे। यदि उपासक ही न रहेगा तो देवी का देवीत्व कैसा ? और तब एक सामान्य नारी उस बड़े-से बोझ को ढोवेगी कैसे, जिसे कि आप धरे जा रहे हैं ?'

हतवाक् सुकान्त बोले—मेरे जीवन की इस अबेला में तुम मुझे यह कौन-सी गाथा सुना रही हो कविता ?

'एक छोटी-सी कविता। और इसका पाठ मुझे पिया ने दिया था। पिया के अनुरोध को मैं नहीं टाल सकती हूँ। न आपके लिए टाल सकती हूँ, न आपके देवीत्व के लिए और पिया के काका को भी कहीं बाहर जाने नहीं दे सकती हूँ। उसकी जीवित अवस्था में मैंने उसका अनुरोध नहीं रखा। किन्तु उस मृता के निकट मैं अपराधिनी बनकर नहीं रह सकूँगी।'

'परन्तु मैं अपनी लज्जा को ढाँकूँगा किस चीज से कविता ?'

'वह तो आप ही जानिए। मैं जानती हूँ इतना कि आप पिया के काका हैं और मेरे पति। एवं मैं अपने पति को बाहर जाने भी नहीं दे सकती।'

'किन्तु तुमने इतनी देर क्यों लगा दी कविता ? इस अबेला में मैं उस खोये हुए मन को ढूँढ़ता फिरूँ कहाँ ?'

'इसकी क्या जरूरत है ? मैं पिया की काकू हूँ और तुम हो उसके काका। क्या इतना परिचय तुम्हारे और मेरे लिए यथेष्ट न होगा ?'

सुकान्त मुँह ढाँककर बैठ गये, बोले—पिया की काकू हो तुम ? तो आओ मेरे निकट आकर बैठ जाओ। किन्तु मेरी ढँकी हुई आँखों को कभी खोलने के लिए न कहना।

संयत स्वर से कविता ने उत्तर दिया—इसकी जरूरत किसी दिन पड़ेगी ही नहीं।

[२५]

श्रावण-संध्या घनी हो रही थी। वर्षण-विरत मेघ आकाश की गोद में डमरू बजा रहे थे। वायु श्रावण के गान से फूल रही थी। और पृथ्वी श्रावण की धारा को आकंठ पीकर सृष्टि की खँजरी बजा रही थी।

मृणाल हारमोनियम के साथ गला मिलाकर एक गजल गा रही थी—

पिया की नगरिया के श्यामलिया रे

बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया।

बाहर के कमरे में बैठा निशीथ कुछ पढ़ रहा था। संगीत का पद उसके हृदय में एक आवर्त की सृष्टि करने लगा। उससे बैठा न गया। उठा और पत्नी के निकट जाकर वेदनातुर स्वर से कहने लगा—नहीं नहीं, इस गाने को तुम गाओ।

पूर्ण दृष्टि से पति को देखती हुई मृणाल उत्तर में बोली—किन्तु इस गान को गाने का आज तो केवल मुझी को अधिकार है। वह तुम्हारी पिया है, मेरी भी तो पिया है न। और तुम केवल उसी के पिया नहीं हो, मेरे भी पिया हो। उसके और मेरे भीतर जो एक व्यवधान था, उसकी मृत्यु ने आज उसे दूर कर दिया है। और उस व्यवधान के स्थान पर मिलन का एक अमर गीत रख दिया है। हटो मत, पास आओ। देखो, यह किसका चित्र है।

निशीथ ने देखा पपीहरा का एक बड़ा-सा ऑयल-पेन्टिंग दीवार पर लटक रहा है। चित्र में उसके मुँह की हँसी तक सजीव हो रही है। चित्र के गले में फूल का मोटा गजरा बहुत ही सुन्दर लग रहा था। चित्र कब और कैसे, कहाँ से आया, और कब दीवार पर लटकाया गया, यह सब निशीथ कुछ नहीं जान पाया था।

अपलक नेत्र से निशीथ चित्र को देखने लगा। पिया—वही पिया—स्वर्ग की विद्याधरी, नीलम देश की नीली परी, मीठी, मोहक, मधुर पपीहरा सामने खड़ी मुसकरा रही थी—और ध्यानमग्न पुजारी-सा निशीथ समाधिस्थ था।

प्रीति-नेत्र से मृणाल ने पति को देखा, उसके बाद उसका हाथ पकड़कर बोली—देखो, इसे पहचानते हो न? पिया को तुम पहचानते हो न?

'नहीं नहीं, उसका नाम तुम मत लो। तुम्हारे मुँह से मैं उसका नाम नहीं सुन सकूँगा—नहीं सुन सकूँगा।'

'नहीं सुन सकोगे? क्योंकि मैं घातक हूँ, इसलिए? मेरे लिए वह मरी? किन्तु मैं कहती हूँ, नहीं—वह मरी नहीं, मर सकती नहीं। मृत्यु के बाद जो एक जीवन है, उस जीवन में वह जीवित है, जीवित रहेगी। पिया नहीं मर सकती। तुम मर जाओगे, मैं मर जाऊँगी, किन्तु वह न मर सकेगी। उस प्रेम की मृत्यु कहाँ है, जिसमें कि ध्रुवतारा का सत्य ध्रुव, सुन्दर, शुचिता, कल्याण भरा रहता है? क्या तुम देख नहीं पाते, सुनते नहीं हो? वह तो ध्रुवतारा में बैठी जगत् को

प्रेम का, कल्याण का, साहस का, निष्ठा का, सत्य का पाठ दिया करती है। मुझे भी उस करुणा का एक कण मिल गया है।'

पत्नी के हाथ में निशीथ का पड़ा हुआ हाथ बार-बार सिहरने लगा, कौन जाने किसलिए घृणा से या वितृष्णा से अथवा प्रेम से, निशीथ ने अपना हाथ खींच लिया। उस चित्र से निशीथ के नेत्र हट न सके। उस उल्का सी रूपसी को, नेत्र की सर्वग्रासी दृष्टि से निशीथ पीने सा लग गया। कौन जाने मृणाल की बातें उसके कानों तक पहुँची भी या नहीं।

वेदनातुर नेत्र से मृणाल ने एक बार पति को देखा और फिर मृदु-मृदु गी—

पिया की नगरिया के श्यामलिया रे
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया,
तन-मन में और डगरिया में
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया।
पिया-पिया की भोली माया
जल-स्थल में है व्यापी काया
छाय रही पिया की छाया
बाज रही सुन मिलन बाँसुरिया।

———